संस्कृति

उत्तर प्रदेश

अप्रैल–मई
1993

सांस्कृतिक कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश का प्रकाशन

अश्वारूढ़–ऊदल की प्रतिमा (महोबा)

मुख पृष्ठ : पं० लल्लू बाजपेयी और उनके साथी (आल्हा गायक और वादक अपनी भावपूर्ण मुद्रा में)

संस्कृति विभाग उ०प्र०
उपहार स्वरूप भेंट

आल्हा और अल्हैत

डॉ० पवन अग्रवाल
एम०ए०, पी–एच०डी०
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उ०प्र०

किसी भी साहित्य को अगर जनता के साथ जुड़ना है तो उसे जन के हृदयोद्गारों को उकेरना होगा। शिष्ट साहित्य जन के उद्गारों को बुद्धि के साँचे में ढालकर जनता के सामने लाता है जबकि लोक साहित्य मानव हृदय के उद्गारों को सहज भाव से व्यक्त करके, शिष्ट साहित्य की अपेक्षा अधिक लोक सहानुभूति प्राप्त करता है। सहजता से कही गई बात अधिक प्रभावित करती है, इसी कारण आदिम युग से लेकर इस वैज्ञानिक, यांत्रिक युग तक लोक साहित्य ने मानव के सुख–दुःख के क्षणों में नैरंतर्य सहभागिता निभाई है। लोक साहित्य की विभिन्न विधाओं–लोकगीत, लोक कथा, लोक गाथा, लोक नाट्य आदि में इसी कारण मानव का जीवन परिलक्षित हो उठता है।

ऐसे ही अपनी युग की कहानी को अपने अन्तः में छिपाए, महोबा के चन्देल शासक राजा परमर्दिदेव के सामंत आल्हा–ऊदल के गौरवमय चरित्र को लेकर कवि जगनिक द्वारा अन्स्यूत 'आल्हा' लोकगाथा काव्य हमारे बीच विद्यमान है जिसने अपनी अद्भुत चमत्कारी भाव सम्प्रेषणता के कारण देश के ही नहीं अपितु विदेशी विद्वानों का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित किया है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान मात्र इस तथ्य से ही लगाया जा सकता है कि इसकी कोई हस्तलिखित प्रति उपलब्ध न होने पर भी अपने प्रणयन काल (१२वीं शती) से लेकर वर्तमान तक बिना राज्याश्रय, पुस्तकालय का प्रश्रय पाए, यह लोक कंठ में विराजमान है।

आल्हा की लोकप्रियता एवं उसके साहित्यिक, ऐतिहासिक महत्व को समझकर सन् १८६५ में सर चार्ल्स इलियट ने आल्हा गायकों के द्वारा मौखिक वर्णना संकलित करके, एक प्रामाणिक पाठ संपादित कराया था। जिससे भारतीय मनीषियों का ध्यान भी इसकी ओर आकृष्ट हुआ और इसकी उपादेयता को समझकर इस बिखरी लोक सम्पदा को संयोजित करने के प्रयत्न प्रारंभ हुए किन्तु 'आल्हा' की गाथा आज भी एक सफल उपयोगी विवेचन के लिये प्रतीक्षित है।

आल्हाखण्ड की लोकप्रियता और प्रस्तुतीकरण

बुन्देलखण्ड की धरा अपने शौर्य एवं पराक्रम के लिए विश्व प्रसिद्ध रही है। न जाने कितनी शौर्य गाथाएं इस धरा की क्रोड में पले वीरों के चरित्र को लेकर लिखी गईं, जिन्होंने भारतीय जन–मानस को आप्लावित किया। यह शौर्य–गाथाएं अपने–अपने नायक

के अभिनव चरित्र को उभारने के साथ–साथ तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक स्वरूपों को भी प्रतिबिम्बित करने मे सक्षम रही हैं। इन गाथाओं में बुन्देलखण्ड की सम्पूर्ण लोक संस्कृति एक फलक पर चित्रित हो उठी है।

निःसन्देह समस्त उत्तर भारत में राम–लक्ष्मण के कालजयी चरित्र को लेकर रचित तुलसीकृत 'श्री रामचरितमानस' के पश्चात् यदि किसी गाथा को पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त हुई है तो इसका श्रेय निर्विवाद रूप से, राजा परमाल के सामंत आल्हा–ऊदल के चरित्र को आधार बनाकर लिखी गई रचना, जगनिक कृत 'आल्हखण्ड' को जाता है, जो कि समस्त क्षेत्रीय/राष्ट्रीय परिधियों को लांघकर विश्व की थाती बन गयी है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इसकी विकासशील प्रवृत्ति के कारण सहज ही लगाया जा सकता है। प्रणयनकाल (१२वीं शती) से लेकर आज तक की आठ सौ वर्षों की दीर्घ यात्रा में इसमें विभिन्न परिवर्तन हुए, विपरीत परिस्थितियां आईं, किन्तु फिर भी यह विकसनशील लोक–काव्य अपनी मूल संस्कृति, इतिहास एवं उद्देश्य को सुरक्षित रखने में पूर्णतः सफल रहा है।

आल्हखण्ड के नायक वीर आल्हा–ऊदल हमारी राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक बन गये हैं। उनका उदात्तत्व, राज्य रक्षार्थ एवं निर्बल की सहायतार्थ प्राणोत्सर्ग करने की भावना भरता है। भारत पर जब भी संकट आया है आल्हा की कथा ने जनमानस को प्रेरित किया है। सन् १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में अल्हैतों का योगदान सदैव स्मरणीय है। न जाने कितने तेजस्वी पुरुष अल्हैतों की ओजस्वी स्वरलहरी ने निर्मित किए होंगे जो सम्पूर्ण भेदभाव भूलकर, देश की आन पर, अपने स्वाभिमान पर मिटने के लिए आगे बढ़ते गए। कुछ ऐसे तथ्य प्राप्त होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि प्रथम महायुद्ध में सरकार की ओर से सैनिक छावनियों में आल्हा गायन करवाया जाता था। तत्कालीन अंधकारमय परिस्थितियों में अल्हैतों की वाणी ही जनमानस को जागृत रखे रही। जिस कथा की गायकी में इतना ओज हो उसकी सार्थकता तथा लोकप्रियता स्वतः स्पष्ट है।

चन्देलकालीन युग पुरुष सामन्त वीर आल्हा–ऊदल की यशोगाथा से मात्र क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय विद्वान, समीक्षक ही मोहित नहीं हुये अपितु विश्व की अनेक महान शोध–प्रतिभाओं का रुझान इसकी ओर रहा है। अतएव समय–समय पर भारत आकर विभिन्न विदेशी विद्वानों ने आल्हा का अध्ययन किया है।

हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास लेखक डा० जार्ज ग्रियर्सन ने विदेशों में आल्हा की लोकप्रियता को देखते हुये इसके कुछ अंशों का अनुवाद अंग्रेजी के बेलेड छन्द में किया। इसमें 'मारू फ्यूड' अर्थात् माडों की लड़ाई तथा 'नाईन लाख चेन' (नौ लखा हार) उल्लेखनीय है। अमेरिकी शोधकर्ती डा० केरिन शोमर तो 'आल्हा' की यशोगाथा को यूरोप में प्रचलित होमर के ओजस्वी काव्य के समकक्ष स्थान देतीं हैं। हाल ही में भारतीय मूल के अमेरिका निवासी डा० लक्ष्मी गणेश तिवारी ने भी 'आल्हखण्ड' की इस रसमेयता से मुग्ध होकर बिदोखर निवासी प्रसिद्ध अल्हैत जयसिंह के माध्यम से, मौखिक वर्णना संग्रहित कर, लिपिबद्ध की है जो निःसंदेह भविष्य में 'आल्हा' की गुणवत्ता को समझने में सहायक होगी।

इस प्रकार विकास की हर स्थिति में, 'आल्हा' में होने वाले वस्तु, भाषा आदि कलेवरों में विभिन्न परिवर्तन एवं परिवर्द्धन की प्रक्रिया ने उसे कदम–कदम पर लोकप्रियता दी है। 'आल्हा' मुख्यतः बुन्देली की धरोहर है किन्तु हर क्षेत्र की संस्कृति के अनुरूप उसमें जुड़ने

वाले नाम, स्थान, रंग, संस्कार आदि से वह उस क्षेत्र के लोक जीवन का अंग बन गया है। इसकी लोकप्रियता भोजपुरी, अवधी, बघेली, कन्नौजी, ब्रजी, कौरवी आदि क्षेत्रों में उतनी ही है जितनी कि बुन्देली में।

अब प्रश्न उठता है इसके प्रस्तुतीकरण का ? आल्हा की कथा, 'आल्ह छन्द' को प्रस्तुत करने वाले अल्हैत कहलाते हैं, जिन्हें आलिया, सैरवार तथा आल्हा गायक के नाम से भी जाना जाता है। यह अल्हैत मुख्यतः आल्हा गायन की पारम्परिक शैली को अपनाते हैं। इसके अतिरिक्त लोकगीत, नौटंकी में भी आल्हा विषयक घटनायें समाहित हैं। नौटंकी की लावनी परम्परा में पं० नथाराम कृत 'शंकरगढ़ संग्राम', मुरलीधर राय कृत 'चन्द्रावलि का झूला', 'ब्रह्मा का ब्याह', 'आल्हा निकासी' आदि उल्लेखनीय हैं।

कुछ क्षेत्रों में आल्हा–ऊदल की कथा से सम्बन्धित फागें एवं स्वांग भी प्रस्तुत किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त आल्हा छन्द में विभिन्न धार्मिक घटनाओं, राष्ट्रीय घटनाओं एवं विज्ञापन का प्रचार प्रसार होता है। अब तो आल्हा की तर्ज पर फिल्मों में भी गाने आने लगे हैं।

उपर्युक्त सभी विधाओं में आल्हा गायन की विधा सबसे प्राचीन तथा लोकप्रिय है। आल्हा गायकों द्वारा प्रयुक्त छन्द में सोलह, पन्द्रह की यति से इकतीस मात्रायें होती हैं। इन गायकों में लोक आशुकवि का गुण पाया जाता है, इसी कारण वह एक पर एक पंक्ति बिना रुके रखते चले जाते हैं।

यह गायक मुख्यतः वर्षा ऋतु में आल्हा गायन करते हैं। यह उत्तर भारत के लगभग प्रत्येक गांव में पाये जाते हैं। प्रत्येक क्षेत्र में इनका स्वतंत्र अस्तित्त्व है। प्रत्येक क्षेत्र की संस्कृति, बोली तथा आचार–विचार भिन्न होने के कारण इसका प्रभाव गायक पर भी पड़ता है। जिसका अनुमान आल्हा के विभिन्न पाठों को देखकर

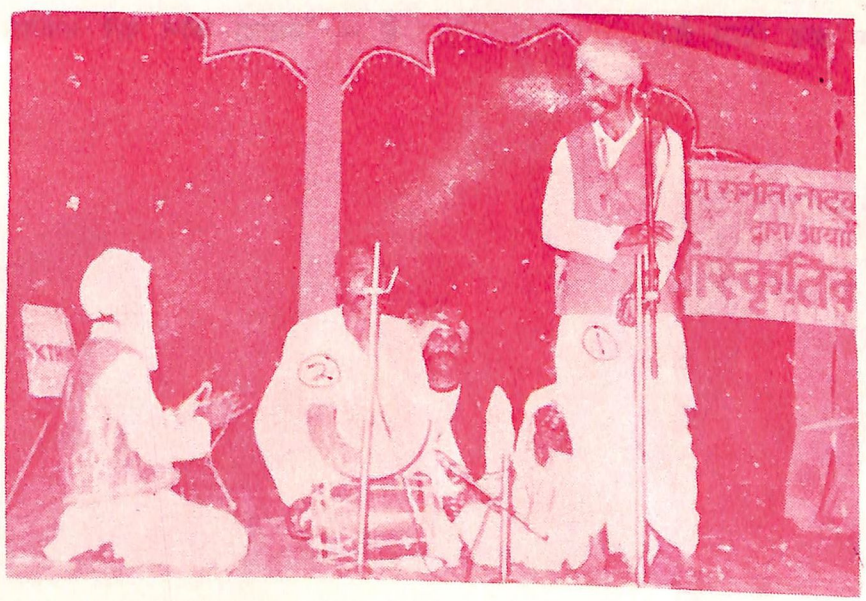

श्री बच्चा सिंह (खड़े हुए), ग्राम–मबई और
श्री चरण सिंह (ढोलक पर) ग्राम–तमोरा, जिला–हमीरपुर

सहज ही लगाया जा सकता है। इतना ही नहीं अपितु एक ही क्षेत्र के गायकों की वेष–भूषा, भाषा, संगीत, वाद्य–यंत्र आदि में भी अन्तर आ जाता है।

आल्हा को प्रस्तुत करने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में वर्षा ऋतु उपयुक्त मानी जाती है। जनसाधारण में प्रचलित है :–

"भरी दुपहरी सरवन गाइये, सोरठ गाइये आधी रात। आल्हा पंवाड़ा बा दिन गाइये, जा दिन झड़ी लगे बरसात।"

सच है बरसात में अल्हैत "आल्हा–ऊदल बड़े लड़इया, जिनकी मार सही ना जाय" गाते हैं तो दुर्बलों में भी ऊर्जा का संचार हो जाता है। 'आल्हा' को प्रस्तुत करते समय गायक अपने साथियों के साथ वाद्य स्वरूप ढोलक, मंजीरे का प्रयोग करते हैं किन्तु अब हारमोनियम, झींका, कारनेट आदि आधुनिक यंत्रों का भी प्रयोग होने लगा है। ज्ञात हो कि बुन्देलखण्ड के आल्हा गायक मुख्यतः ढोलक तथा मंजीरे का प्रयोग करते हैं, जबकि अन्य क्षेत्र के गायकों ने अन्य वाद्य यंत्रों को भी प्रयोग में लाना प्रारम्भ कर दिया है।

अल्हैत प्रारम्भ में कुण्डलिया अथवा साखी से प्रारम्भ करके देवी–देवताओं की सुमिरणी गाते हैं, तत्पश्चात् साखी अथवा दोहे से ठाठ जमाकर अधिकतर कहरवा की मध्य लय में आल्हा छन्द का गायन प्रारम्भ करते हैं, फिर पुनः धीरे–धीरे द्रुत की ओर अग्रसर होते हैं तथा द्रुत की चरम सीमा आने पर आल्हा छन्द अथवा साखी से तोड़कर एक चक्र पूर्ण करते हैं। इसी प्रकार यह गायन चलता रहता है। कहीं–कहीं कहरवा के स्थान पर दादरा लय प्रयोग में लायी जाती है।

अल्हैत, 'आल्हा' की कथा के मध्य में जनता को आकर्षित करने के लिए रामायण तथा महाभारत एवं सामयिक संदर्भों का उद्धरण देते हुए कथा को रुचिकर बनाते हैं। इसके अतिरिक्त छन्द पूरा करने में कठिनाई अनुभव करने पर अल्हैत तुरन्त ही कहता है – "याहीं की बातें याहीं रह गईं, अब आगे का सुनो हवाल", "मैं तुम्हें हाल देऊँ बतलाय", "ज्वानों सुनियों कान लगाय", "भैया सुनियो बात हमार", आदि वाक्यों का प्रयोग करते हैं। किसी प्रसंग को संक्षिप्त करने के लिये तुरन्त कहते हैं – "ज्यादा कौन करें बकवार"।

गया प्रसाद पाण्डेय, प्रतापगढ़

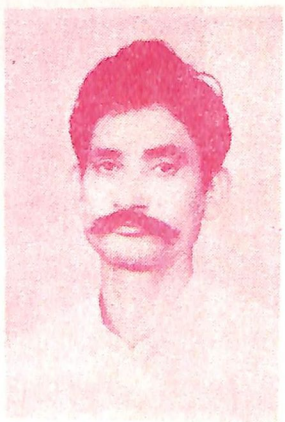

पं० दया शंकर मिश्र, आल्हा सम्राट
सारंगपुर, लंहगराय कोटवा, सुल्तानपुर

इसी प्रकार प्रत्येक अल्हैत नीति वाक्य का भी प्रयोग करता है। चरित्र उद्‌बोधन का उपदेश देते हुए तुरन्त कहता है कि – "राम बनइहैं तो बन जइहैं, बिगरी बात बनत बन जाय।" अतिशय' उद्‌बोधन की दशा में "पावें पिछारे हम ना धरिहैं, चाहें प्राण रहें की जायें" जैसी इति – वृत्तात्मक शब्दावलियाँ समांन रूप से प्रयुक्त होती हैं, जो जनमानस को कार्य सम्बन्धी दृढ़ता देने में विशेष सहायक सिद्ध होती है।

इस प्रकार अपनी वस्तु एवं शिल्प परक वैविध्य, वीर, श्रृंगार रस की संवर्द्धना में परिपूर्ण, संस्कृतियों का गौरव, संगीतबद्धता के आयामों के साथ आल्हा लगभग आठ शताब्दियों से राष्ट्र ही नहीं अपितु विश्व के जनमानस को आप्लावित करता आ रहा है। इन शताब्दियों में जो महत्व आल्हा को मिला है वह संभवतः किसी और क्षेत्र, देश और विदेश में प्रचलित लोकाख्यान को सुलभ नहीं हो पाया है।

आल्हा का विकास–क्रम

सुविदित है कि राजा परमाल एवं उनके सामन्त आल्हा–ऊदल को लेकर लिखे गए प्रशस्तिगान 'आल्हा' से जनमानस, जनसाधारण ही नहीं अपितु विद्वत्‌जन भी प्रेरणा ग्रहण करते हैं। यह आदि विकसनशील लोक महाकाव्य आठ सौ वर्षों से लोककंठ में प्रश्रय पाकर पल्लवित और पुष्पित होता रहा है। यह उर्जाकाव्य लोक की अपनी निधि है।

इन आठ सौ से भी अधिक वर्षों की यात्रा में भारतीय भौगोलिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में विभिन्न परिवर्तन हुए। अपने प्रणयनकाल १२वीं शती से ही बुन्देलखण्ड जनपद में बाहरी आक्रमणों, बिखरे और विभाजित राज्यों तथा अक्षम और अपर्याप्त सुरक्षा साधनों के कारण, यह काव्य सम्पदा सुरक्षा न पा सकी। इसके पश्चात् १६वीं शती से लेकर आज तक की कालावधि में, यहां की काव्य सम्पदा पर डाले

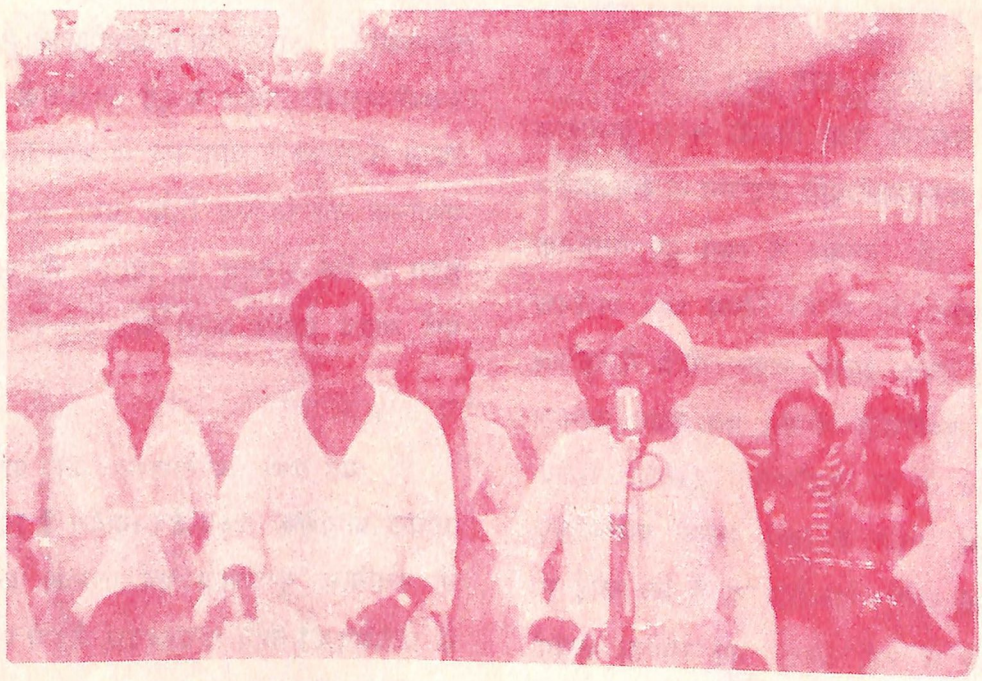

स्व० श्री सत्य नारायण 'मसवासी'
ग्राम–मसवासी, जिला–उन्नाव

गये डाकों की कोई गणना नहीं है। अतएव, मूल साहित्यिक प्रतियों का अभाव स्वाभाविक है। यही कारण है कि 'आल्हखण्ड' की कथा ज्यादातर लोक गीतों, गाथाओं, आख्यानों के रूप में परिणित होकर अपने अस्तित्व को तो बचाये रही किन्तु कथाचक्र में बहुत पहले से ही परिवर्तित और परिवर्द्धित अंशों के विभिन्न रूप दृष्टिगत होते हैं। जैसे – भविष्य पुराण, पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, वीर विलास, आल्हखण्ड आदि।

'आल्हा' की इस दीर्घ परम्परा को हम प्रचलित ग्रन्थों के आधार पर देखें तो उसकी परम्परा का सहज अनुमान किया जा सकता है। अतएव इसका अध्ययन करने हेतु 'आल्हा' के इस विकास क्रम को हम मुख्यतः तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं –

(क) आदिकालीन आल्ह–सम्पदा

(ख) मध्ययुगीन आल्ह–सम्पदा

(ग) अर्वाचीन आल्ह–सम्पदा

(क) आदिकालीन आल्ह सम्पदा :

'आल्हा' के रचयिता आदि कवि जगनिक थे जो कि महोबा नरेश परमाल तथा दिल्ली नरेश पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) एवं कन्नोजाधिपति जयचन्द के समकालीन थे। राजा परमाल के दरबार में रहते हुए जगनिक ने अपने प्रबन्ध काव्य का सृजन किया था। प्रारंभिक रूप में अवश्य यह प्रबन्ध अलग–अलग गीतों में सृजित हुआ होगा, किन्तु पृथ्वीराज चौहान एवं राजा परमाल के मध्य ११८२ ई० में हुए युद्धोपरान्त इसके सर्जक ने ११८२ ई० एवं ११९२ के मध्य इसको प्रबन्धात्मक आयाम प्रदान किया होगा। उल्लेखनीय है कि कोई भी प्रबन्ध, वर्ष दो वर्ष में नहीं लिखा जा सकता उसके लिए एक दीर्घ प्रक्रिया चली होगी। इसके अतिरिक्त 'आल्हखण्ड' का प्रत्येक खण्ड अपने आप में पूर्ण है। यह भी सत्य है कि वर्तमान उपलब्ध 'आल्हखंड' की प्रबन्धात्मकता को देखते हुए हमें इसके मूल में भी प्रबन्धात्मकता दृष्टिगोचर होती है। तत्कालीन प्रसंगों को कवि ने बड़ी चतुरता से एक दूसरे से अनस्यूत किया है। इसका स्वरूप इसे प्रबन्ध महाकाव्य की शैली में रखता है।

इस काल के गायक, यहाँ तक कि स्वयं सर्जक भी इस घटना चक्र को गा गाकर सुनाते थे।

इस जगनिक कृत आल्हाखण्ड के पात्रों एवं कथानक को विभिन्न ग्रन्थों ने ऐतिहासिकता प्रदान की है। इस काल में आल्हा को लेकर लिखे गये मुख्य ग्रन्थों में क्रमशः भविष्य पुराण, पृथ्वीराज रासो एवं कजरियन को राछरौ आदि उल्लेखनीय हैं।

१. भविष्य पुराण

विद्वतजन यह स्वीकार करते हैं कि भविष्यपुराण १२वीं शती की रचना है। अतः यह जगनिक कृत काव्य के कथानक को सर्वाधिक प्रमाणिकता प्रदान करती है। इसकी रचना संस्कृत में हुई है। इसके तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड में महाकवि जगनिक के जीवनवृत्त एवं आल्हा के कथानक का विवरण दिया गया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि संस्कृत के विद्वान भी लोक नायकों को पूर्ण महत्व प्रदान करते थे।

२. पृथ्वीराज रासो

यह ग्रन्थ आल्हखण्ड की प्राचीनता का सबसे अधिक प्रामणिक साक्ष्य है। विदित है कि पृथ्वीराज रासो के रचयिता, पृथ्वीराज एवं परमाल के मध्य हुये युद्ध के प्रत्यक्षदृष्टा कवि चन्दवरदाई हैं। वे जगनिक के सम–सामयिक भी थे। इसी ग्रन्थ की भाषा का प्रभाव मध्ययुग रचित विवादास्पद 'परमाल रासो' नामक काव्य

पर परिलक्षित होता है। यह ग्रन्थ 'आल्हा' के कथानक को प्राचीनता एवं प्रमाणिकता प्रदान करता है। हालांकि विद्वानों का मत है कि पृथ्वीराज रासो की रचना बाद के वर्षों में हुई, किन्तु भाषा, इतिहास एवं तत्कालीन वृत्तियों को देखते हुए इसकी प्राचीनता से इन्कार नहीं किया जा सकता। कुल मिलाकर पृथ्वीराज रासो में ६९ सर्ग हैं जिसका अंतिम सर्ग 'महोबा समय', 'आल्हा' संबन्धित घटनाओं को प्रकट करता है।

३. कजरियन को राछरौ (१३वीं–१४वीं शती)

'आल्हखण्ड' में वर्णित 'महोबे की लड़ाई' एवं 'कजरियों की लड़ाई' अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें चौहान नरेश पृथ्वीराज द्वारा चंदेलों पर आक्रमण करने की घटना का उल्लेख है, जिसके कारण महोबा की राजकुमारी चंद्रावलि की कजरियां एक दिन दुर्ग में बिलखती रहीं, क्योंकि आल्हा, ऊदल निष्काषित होकर कन्नौज चले गये थे। दैविक स्वप्नोपरांत ऊदल, लाखन ने योगी वेश में आकर पृथ्वीराज से मोर्चा लिया। ऊदल की विजयोपरान्त दूसरे दिन भादों में कजरियाँ खोंटी गईं, तब से आज तक महोबा में कजरियाँ सावन की पूर्णिमा के अगले दिन खोंटी जाती हैं।

(ख) मध्ययुगीन आल्ह–सम्पदा
(१४वीं शती से १८वीं शती तक)

यह काल 'आल्हा' काव्य संपदा का स्वर्णकाल रहा है। जैसा कि विदित है कि इस काल में विदेशी आक्रमणों, गृहकलह तथा विदेशियों से अपनी स्वतन्त्रता, संस्कृति, नारी, भाषा, संपदा आदि की रक्षा करने की आवश्यकता थी। कवि, साहित्यकार दमनचक्र से विवश होकर अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का सहारा ले रहे थे। हिन्दी की भक्ति और रीति कविता ईश्वर एवं राजदरबार की ओर उन्मुख थी। ऐसे में लोक को जूझने की प्रेरणा देने के लिए उर्जा का ध्वज हाथ में लेकर 'आल्हा' के गायक ने राष्ट्रीय शंखनाद किया। जिसके परिणाम स्वरूप इस काल की विभिन्न काव्य रचनाओं में 'आल्हा' की गाथा को प्रश्रय मिला। इस काल में परमाल रासो, आल्हा राइछो, जगतराज–दिग्विजय, वीर–विलास, पृथ्वीराज दरेरो आदि में आल्हा का कोई न कोई प्रसंग अथवा कथा वर्णित है।

इस युग की विशेषता यह है कि इस युग में 'आल्हा' का कथानक प्रबन्धात्मक स्वरूप में प्राप्त होता है।

बाबूलाल मौर्य, सुल्तानपुर

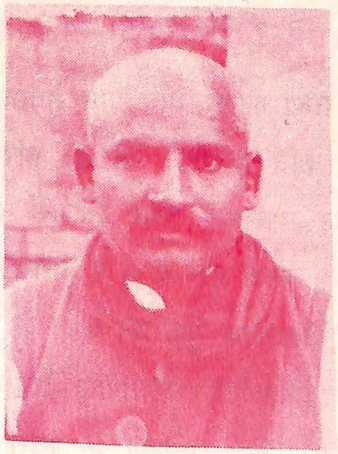

शिव कुमार त्रिपाठी, अलीगंज, सुल्तानपुर

इन ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय निम्नवत है :–

१. परमालरासो (१५२६ ई.)

इस ग्रन्थ को 'महोबा खण्ड' एवं 'महोबा रासो' के नाम से भी जाना जाता है। इसका प्राचीन ग्रन्थों में नाम 'महोबासमयौ' था तथा इसके अनुसंधानकर्ता बाबू श्याम सुन्दर दास ने इसे 'परमाल रासो' नाम दिया है।

२. आल्हराइछौ (१७वीं शती)

आल्हराइछौ का रचयिता और रचनाकाल अज्ञात है। पं० गौरी शंकर द्विवेदी ने उसे जगनिक कृत मान लिया है पर भाषारूप से वह १७वीं शती की कृति प्रतीत होती है।

इस लघु प्रबन्ध में ४३८ छन्दों में कवि ने 'आल्हा' के जीवन का एक खण्ड चित्र अंकित किया है। इसमें वर्णित कथा का आधार 'आल्हखण्ड' का 'आल्ह मानौआ खण्ड' है। कथा के इस लघु आयाम ने उसे प्रवाह और अन्विति प्रदान की है, पर आल्हखण्ड जैसी ओजमयता और उदात्ता नहीं आ पाई।

३. जगतराज-दिग्विजय (१७२२–२३ ई०)

इस ग्रन्थ के रचयिता ग्राम सेवढ़ा, जिला दतिया निवासी विप्र कवि हरिकेश जी हैं। हरिकेश जी पन्ना नरेश महाराज छत्रसाल तथा जैतपुर नरेश जगतराज के आश्रित थे। उनके इस ग्रन्थ में जगतराज और दलेल खाँ के बीच ऐतिहासिक युद्ध की कथा के साथ छोटे–बड़े युद्धों के संक्षिप्त विवरण हैं। जगतराज–दिग्विजय में चन्देलों और बनाफरों के विवरण के साथ आल्हा–ऊदल सम्बन्धी कुछ छन्द हैं।

४. वीर–विलास (१७४१ ई०)

प्रस्तुत पुस्तक कवि ज्ञानी जू की प्रौढ़ कृति है। ग्रन्थ दो भागों में विभाजित है :– पहले भाग में आल्ह मनौआ तथा बेतवा युद्ध का वर्णन है तथा दूसरे में बेला का गौना और सती होने की कथा है जो कि 'आल्हखण्ड' तथा तत्कालीन रचना 'परमाल रासो' का अनुकरण प्रतीत होता है, किन्तु यह शास्त्रीय प्रबन्ध में ढलकर परिनिष्ठित हो गई है। कवि की कुशलता है कि कवि ने प्रबन्धात्मक रुढ़ि में फंसकर भी लोक रूप को क्षत–विक्षत नहीं होने दिया। लोक की स्वाभाविक सहज प्रकृति को केन्द्र में रखने से उसके चरित्र सजीव बन पड़े हैं।

५. पृथ्वीराज दरेरौ (१४वीं शती)

प्रस्तुत हस्तलिखित कृति डा० नर्मदाप्रसाद गुप्त को आकाशवाणी छतरपुर के इलाशंकर गुहा से प्राप्त हुई थी। नामकरण से यह ग्रन्थ पृथ्वीराज चौहान के चन्देल नरेश पर आक्रमण करने की कथा का बोध कराता है। इसके प्राप्त अंश के लगभग ८०० पृष्ठों में केवल मलखान–मोहिनी के विवाह की कथा वर्णित है। अतः इसके स्वरूप का स्पष्ट पता नहीं चलता।

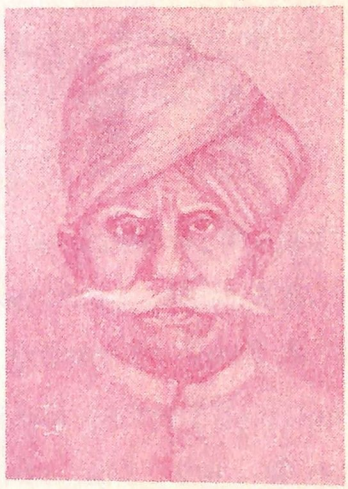

स्व० ठा० शिवराम सिंह

इन उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त प्राचीन काल से प्रवाहित मौखिक आल्हा का प्रणयन भी चलता रहा, जिसकी वर्णना लोक गायकों एवं अल्हैतों के द्वारा समाज में प्रचलित रही है। यही लोक गायन एवं अल्हैत जगनिक के 'आल्हा' मूल की वर्णना के एक मात्र पोषक रहे हैं। विदेशी प्रभाव के कारण बुन्देलखण्ड की साहित्यिक सम्पदा क्षतविक्षत हो गई तथा समाज को जब पुनः चेतनता की आवश्यकता पड़ी तो इन अल्हैतों ने अपनी ओजस्वी स्वर लहरी से भारतीय जनमानस में प्राण फूँके।

बुन्देलखण्ड की वर्तमान अल्हैतों की परम्परा का पृथक स्वरूप इसी काल में दृष्टिगत हुआ है। सर्वेक्षणानुसार तत्समय बुन्देलखण्ड के अल्हैतों की परम्परा के श्री पीरासाईं तथा उनके शिष्य फत्तू कसाई की उपस्थिति का उल्लेख मिलता है जिनकी वाणी का प्रभाव इस काल की काव्य सम्पदा एवं जनमानस पर भी पड़ा।

(ग) अर्वाचीन आल्ह संपदा : (१६वीं शती से अब तक)

यह युग भारतीय साहित्य संपदा को एकत्रित करने की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। इसे हम लोक साहित्य का पुनरूत्थान काल भी कह सकते हैं। पूर्व युगीन सम्पदा के विवेचन से हमें ज्ञात होता है कि 'आल्हा' की वस्तु इस समय तक साहित्यिक प्रबन्ध में बंध गई थी। अतः अर्वाचीन युग में विभिन्न पाश्चात्य एवं भारतीय विज्ञों के हाथ इसकी सुरक्षा के लिए बढ़ गए। इसके उदात्त स्वरूप एवं जनमहत्व को देख विज्ञों ने इसकी ओर अधिक ध्यान दिया, जिसके परिणामस्वरूप आल्हा के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर हुए तथा कवियों की प्रतिभा उभरकर सामने आयी। इस अर्वाचीन युग में उपलब्ध आल्ह संपदा को हम दो कालों में बाँट सकते हैं – प्रथम स्वतन्त्रता पूर्व की आल्ह संपदा तथा द्वितीय स्वातन्त्र्योत्तर आल्ह संपदा।

स्वतन्त्रता पूर्व की आल्ह संपदा :

यह युग बीसवीं शती के प्रथम चरण तक लगभग सात, आठ दशक चला। इसका प्रारम्भ हमें १८५७ के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से मानना चाहिए, जिसमें की अल्हैतों, हरबोलों के उर्जा भरे गीतों का योगदान अविस्मरणीय है, परन्तु अंग्रेजों के दमन के बाद कवियों ने एक नई करवट ली और हर क्षेत्र में नया लोकस्वर फूटा। बुन्देलखण्ड में फाग सैर आदि लोक विधाएँ नये विषय और नयी संरचना के साथ प्रवाहमान हुईं। पाश्चात्य विद्वानों सर चार्ल्स इलियट, वी० स्मिथ, ग्रियर्सन आदि ने गायकों से पाठ संग्रह करवाया और कन्नौजी, बनाफरी तथा खड़ी बोली में पाठ प्रकाशित हुए। वहीं भारतीय आल्हविज्ञों ने व्यक्तिगत सृजनात्मक प्रतिभा स्वरूप आल्ह ग्रन्थों की रचना की। अतः हम पाश्चात्य एवं भारतीय विज्ञों की निधि को अलग–अलग देखेंगे।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा अर्जित काव्य सम्पदा :

आल्हखण्ड कई सौ वर्षों से लोक गाथा के रूप में समस्त हिन्दी भाषा भाषी क्षेत्रों में गाया जाता रहा है और रामायण तथा महाभारत के समकक्ष उन क्षेत्रों में लोकप्रिय रहा है। इसकी लोकप्रियता को देखते हुए ही फर्रूखाबाद के कलेक्टर चार्ल्स इलियट ने सर्वप्रथम सन् १८६५ में तीन–चार आल्हा गाने वालों को बुलाकर उनकी स्मरणशक्ति के सहारे इसे लिपिबद्ध कराया तथा उन्हीं की प्रेरणा से यह काव्य फतेहगढ़ के श्री ठाकुरदास द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित हुआ।

उसी समय के आस–पास ग्रियर्सन ने बिहार में और विनसेण्ट स्मिथ ने बुन्देलखण्ड में आल्हा के रूपांतरों का संग्रह किया। ग्रियर्सन ने भोजपुरी प्रदेश

में गाये जाने वाले आल्हा के रूपान्तर का अध्ययन किया और उसके एक खण्ड का अंग्रेजी गद्यानुवाद सन् १८८५ में इण्डियन ऐण्टीक्वेरी में प्रकाशित कराया। चार्ल्स इलियट ने ही पश्चिमोत्तर प्रान्त के एकाउण्टेण्ट जनरल श्री डब्ल्यू० वाटरफील्ड का ध्यान अपने आल्हखण्ड के संग्रह की ओर आकर्षित किया, जिसके फलस्वरूप वाटरफील्ड ने उसके कुछ भागों का अंग्रेजी के बैलेड छन्द में अनुवाद किया और १८७५–७६ ई० में कलकत्ता रिव्यू में प्रकाशित कराया। बाद में सर जार्ज ग्रियर्सन ने इलियट द्वारा अनुदित आल्हखण्ड के भागों को अपनी भूमिका और शेष भागों के गद्यानुवाद के साथ सन् १९२३ में आक्सफोर्ड से 'द ले आफ आल्हा' के नाम से प्रकाशित कराया।

इस प्रकार आल्हखण्ड की बिखरी हुई मौखिक वर्णना के संग्रह का लेखन, प्रकाशन एवं अनुवाद कार्य १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रारम्भ किया गया जिसने भारतीय विज्ञों में भी जागृति पैदा की।

भारतीय सृजनात्मकता :

पाश्चात्य विद्वानों ने आल्हखण्ड के जो पाठ संकलित किए, उनके अनुकरण एवं लोक प्रचलित वर्णनाओं के मिश्रण से विभिन्न आल्हग्रन्थों की रचना हुई। इनमें पूँछी–करगवाँ के शिवदयाल कमरिया, झाँसी के नवलसिंह कायस्थ, जिगनी के दिशाराव भट्ट के अतिरिक्त, पेशेवर अल्हैतों द्वारा सुनकर इलियट के द्वारा रूपान्तरित आल्हखण्ड के अनुकरणस्वरूप लिखे गए विभिन्न 'आल्हखण्ड' बाजार में आए। जिनमें पेशेवर अल्हैत भोलानाथ द्वारा गायी जाने वाली वर्णना (जिसका कि संपादन पं० नारायण प्रसाद सीताराम ने किया है) को विद्वानों ने इन सब 'आल्हखण्डों' के मध्य प्रमुख स्थान दिया है। सम्प्रति, भोलानाथ तथा इलियट के ग्रंथ के अनुकरण स्वरूप लिखे गए विभिन्न आल्हखण्ड बाजार में प्रचलित हैं तथा प्रत्येक रचयिता अपने ग्रंथ को सबसे प्राचीन एवं असली सिद्ध करता है।

१. 'आल्हा' (१९वीं शती का उत्तरार्द्ध)

इसके रचयिता पूँछीकरगवाँ निवासी शिवदयाल जी हैं। पहले वह 'पजन' उपनाम से लोकगीत, मँजें और फागें लिखा करते थे बाद में रामचरितमानस से प्रेरणा ग्रहण कर आल्हा की रचना की, जिसने उन्हें उस क्षेत्र में जनप्रिय बना दिया और लोग उन्हें शिवूदा के नाम से सम्मानित करने लगे।

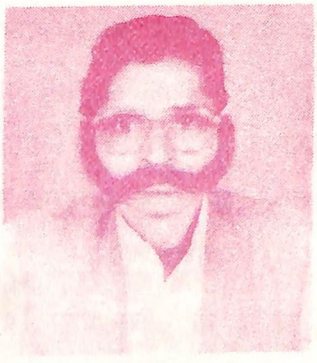

श्री कन्हैया लाल 'धीमान', रायबरेली

श्री जयसिंह
ग्राम–पो०–बिदोखर, जिला–हमीरपुर

उपर्युक्त ग्रन्थ जगनिक कृत 'आल्हखण्ड' तथा चन्द कृत 'पृथ्वीराज रासो' एवं 'परमाल रासो' की कथाओं का सम्मिश्रण प्रतीत होता है। कवि ने इसके विविध वर्णनों में सरसता, प्रभविष्णुता और प्रभाव–क्षमता पैदा की है। बुन्देली की उक्तियों के सौंदर्य बिम्बों की सटीक योजना और संगीत के माधुर्य ने उसे जनप्रिय बना दिया है।

२. पृथ्वीराजरायसो 'तिलक' (१६१६ ई०)

इस रायसौ को 'तिलक रायसौ' का नाम डा० नर्मदा प्रसाद गुप्त ने दिया है। इस तिलक की रचना आल्ह छन्द में हुई है, जिगनी निवासी दिशाराम ब्रह्मभट्ट ने सं० १६७६ वि० में इसकी रचना की।

इसकी कथा आल्हखण्ड की कथा पर ही आधारित है। इसमें आल्हा–ऊदल का वंश वृक्ष भी दिया है। बुन्देली के लोक प्रचलित शब्दों के अतिरिक्त भाषा में तत्सम् शब्दों की बहुलता है।

३. आल्हखण्ड (सन् १८७२ ई०)

इस 'आल्हखण्ड' को पं० नारायण प्रसाद सीताराम ने परिवर्तित एवं परिवर्द्धित करके खेमराज श्री कृष्ण दास प्रेस, बम्बई से प्रकाशित कराया। इसके रचयिता के नाम के रूप में चन्द्रभाट का उल्लेख मिलता है किन्तु इसकी वर्णना तत्कालीन प्रसिद्ध अल्हैत पं० भोलानाथ की है जो कि इलियट द्वारा संपादित आल्हखण्ड का अनुकरण है।

४. नवलसिंह प्रधान कृत काव्य

१६वीं शती के सुप्रसिद्ध कवि नवल सिंह प्रधान के द्वारा लिखित काव्य को अनेक विद्वान प्रमाणिक मानते हैं। आल्हा गायकी पर शोध करने वाले विज्ञ–महेश कुमार मिश्र 'मधुकर' उसको जगनिक रायसो (परमाल रासो) की हस्तलिखित प्रतिलिपि कहते हैं।

इन सबके अतिरिक्त इस काल में मौखिक वर्णनायें भी प्रचलित रहीं। यह सैर तथा सारवी के रूप में थीं। जगनिक की प्राचीन गायकी को (जिसे १७वीं शती में पीरासाईं ने तथा १८वीं शती में फत्तू कसाई ने संजाया था) इस काल में फत्तू कसाई के शिष्य तातीसिंह एवं कालीदीन ने आगे बढ़ाया। कालीसिंह ने बुन्देलखण्ड की इस गायकी को नवीन शैली प्रदान की जो अब तक लोक में प्रचलित है। अल्हैतों का ऐसा मानना है कि इससे पूर्व इस क्षेत्र की आल्हा गायकी बैसवारी पट्टी के अत्यन्त करीब थी। कालीदीन की इस आल्हा गायकी परम्परा को धनीराम शर्मा ने आगे बढ़ाया। अवध प्रान्त में, भोलानाथ की मौखिक परम्परा को शमशेर बहादुर सिंह (गोण्डा), पं० सत्यनारायन (मसवासी), पं० सत्यनारायन बाजपेयी (उन्नाव), श्री काली प्रसाद (सुल्तानपुर) ने अपनाया।

इस प्रकार यह काल जहां एक ओर 'आल्हा' के व्यक्तिगत सृजन का था वहाँ आल्हा गायकों के गायकी में नए प्रयोग का भी। इसके परिणामस्वरूप आल्हा की भाषा, गायकी आदि में नवीन परिवर्द्धन हुए तथा आल्हा गायकी तथा 'आल्हा' की गाथा क्षेत्रीय परिधि को पार कर देश–विदेश में फैल गई। प्रत्येक अंचल ने उसे निज रूप में ग्रहण किया। आल्हा ने नया कलेवर धारण किया।

स्वातंत्र्योत्तर आल्ह सम्पदा – (१६४७ से अब तक)

यह काल लोक साहित्य और लोक गायकी के शोध और समीक्षा का काल है। 'आल्हा' का अस्तित्व लोकसाहित्य सम्बन्धी सर्वेक्षण, व्यक्तिपरक शोधों और शोध उपाधि ग्रन्थों में विश्लेषित हुआ है। आल्हा के विकास

क्रम में बुन्देलखण्ड के साहित्यकारों में जागृति आई। आल्हा को लेकर लिखे गये ग्रन्थों में डा० नर्मदा प्रसाद गुप्त का उपन्यास 'आल्हा' एवं डा० लोक नाथ सिलाकारी द्वारा गायकों की मौखिक वर्णना को संपादित कर लिखे गये ग्रन्थ– जगनिक कृत लोक गाथा काव्य 'आल्हा' उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त 'मध्यप्रदेश संदेश' (५ मार्च १९६५), 'कादम्बिनीं' (अप्रैल १९७०) तथा 'परिषद्–पत्रिका' (अप्रैल ७४) तथा बुन्देलखण्ड साहित्य अकादमी छतरपुर के तत्वावधान में प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका 'मामूलिया' के अंक तथा 'आल्हा विशेषाँक' में विभिन्न शोधार्थियों के शोधपत्रों एवं लेखों के माध्यम से आल्हा की कथावस्तु, भाषा, चरित्र, भावादि को परखा गया। इसके अतिरिक्त डा० चन्द्रशेखर वर्मा द्वारा लिखित शोध प्रबन्ध 'आल्हखण्ड' के साहित्यिक, एतिहासिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन ने नये आयाम प्रदान किए।

इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कार्य बुन्देलखण्ड साहित्य अकादमी, छतरपुर से प्रकाशित पुस्तक 'आल्हखण्ड शोध और समीक्षा' (संपादक डा० नर्मदा प्रसाद गुप्त एवं डा० वीरेन्द्र निर्झर) ने किया।

इनके अतिरिक्त विभिन्न ऐतिहासिक ग्रन्थों एवं अभिनन्दन ग्रन्थों में आल्हा का विवेचन हुआ तथा इतिहासकारों ने भी 'आल्हा' के पात्रों को प्रामाणिकता प्रदान कर सर्वग्राह्य बनाया।

महोबा में जगनिक शोध संस्थान, आल्हा शिक्षा संस्थान, बुन्देलखण्ड साहित्य अकादमी आदि संस्थानों ने आल्ह सम्बन्धी कार्यों को नवीन दिशा प्रदान की।

'आल्हा' के पोषक अल्हैतों ने भी अपनी वाणी को नवीन शैलियाँ दीं। जो कि मुख्यतः आधुनिक श्रव्य दृश्य उपकरणों में भागीदारी और फणों में प्रतिद्वन्दितामूलक प्रदर्शन की होड़ के कारण वैयक्तिकता प्रधान हो गईं। यही कारण है कि बुन्देलखण्ड के बच्चासिंह एवं जयसिंह उन्नाव के लल्लू बाजपेयी, गोण्डा के खेमराज सिंह, उरई के दीनदयाल वर्मा, कानपुर के रामलाल शर्मा ने अपनी व्यक्तिगत प्रयासों से 'आल्हा' को राष्ट्रीय स्तर तक पहुँचाकर मंचगायकी का स्वरूप दे दिया।

'आल्हा' की मंचगायकी के लोकप्रिय होने के कारण ही दूरदर्शन तथा आकाशवाणी के अतिरिक्त अन्य सरकारी संस्थाएँ, जैसे उ० प्र० संगीत नाटक अकादमी तथा अन्य क्षेत्रीय आल्ह संस्थाओं का ध्यान इस ओर गया। उन्होंने प्रतियोगिताएं आयोजित करके अल्हैतों एवं

श्री कल्दार बहादुर सिंह
ग्रा०–पो०–सरैनी, जिला–रायबरेली

श्री राजकुमार पाण्डेय
ग्राम–उसरू, जिला–रायबरेली

'आल्हा' के स्वरूप को निखारा। विभिन्न क्षेत्रीय संस्थाओं के नाम उल्लेखनीय हैं जो प्रतिवर्ष आल्हा गायन प्रतियोगिता का आयोजन कर अल्हैतों का उत्साहवर्धन करती हैं। जैसे – साहित्य परिषद महोबा, नवचेतना समाज, बाँदा, पुरातत्व संग्रहालय – कन्नौज, बैसवारा चेतना संघ, रायबरेली, शिवसेना, उन्नाव आदि।

१. 'आल्हा' (१९६२)

यह डा० नर्मदा प्रसाद गुप्त द्वारा लिखित नायक प्रधान उपन्यास है, जिसमें कि आल्हा–ऊदल के चरित्र को उत्कृष्ट स्वरूप प्रदान किया गया। इसकी भूमिका में लेखक ने जगनिक तथा आल्हखण्ड पर विस्तृत विवेचन किया है।

२. जगनिक कृत लोकगाथा काव्य आल्हा : (१९६९)

यह ग्रन्थ वर्तमान तथा प्राचीन आल्हखण्ड परम्परा को आगे बढ़ाता है। इसको सागर निवासी श्री लोकनाथ द्विवेदी 'सिलाकारी' ने तत्सामयिक अल्हैतों के मुख से प्राप्त वर्णना को सुन कर संकलित किया है। इसका प्रकाशन सागर बुन्देली पीठ से १९६९ में हो गया है। इसकी प्रस्तावना डा० भगीरथ मिश्र ने लिखी है।

आल्हा काव्य में संस्कृति

भारतीय समाज और संस्कृति को सशक्त अभिव्यक्ति देने वाली अमूल्य रचनाओं में विकसनशील लोक महाकाव्य 'आल्हा' का विशेष महत्व है। इस 'आल्हा' को जीवित रखने का श्रेय निश्चित ही अल्हैतों को जाता है। आल्हा की गाथा किसी राज्याश्रय, पुस्तकालय में प्रश्रय न पाकर मौखिक रूप में पल्लवित हुई है। अपने प्रणयन काल से अब तक आल्हा के कलेवर में विभिन्न परिवर्तन हुए हैं। 'आल्हा' लोक की थाती है। इसे जन सामान्य ने पाला–पोसा है। अतएव 'आल्हा' के अन्तर्गत चन्देल कालीन समाज से लेकर, संप्रति समाज का एक विशाल चित्र फलीभूत होता है। सामाजिक संस्कृति के व्याख्याता अल्हैतों की वाणी का वरदान 'आल्हखण्ड' हमें अपने लोक के निकट ले जाता है। 'आल्ह खण्ड' एवं अल्हैतों की वाणी, समाज से अपने सम्बन्ध को स्वतः स्पष्ट करते हैं। अतएव 'आल्हखंड' तथा अल्हैतों की वाणी की सार्थकता को परखने के लिए हमें अपनी प्राचीन संस्कृति की छवि देखनी चाहिए।

आल्हा युगीन संस्कृति

अल्हैतों द्वारा गायी जाने वाली आल्हा की कथा में प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों युग का समाज अपनी पूर्ण भव्यता के साथ दृष्टिगत हुआ है, किन्तु प्रमुखता बारहवीं शती की संस्कृति की ही मिलती है, क्योंकि इसका प्रणयनकाल यही है। यह बात दूसरी है कि मौखिक रूप में पल्लवित होने के कारण सामयिक परिवेश भी घर कर गया।

राजनैतिक पक्ष

'आल्हा' के अन्तर्गत बारहवीं शताब्दी की भाँति सामन्तवादी प्रथा का रूप मिलता है। आल्हा–ऊदल भी

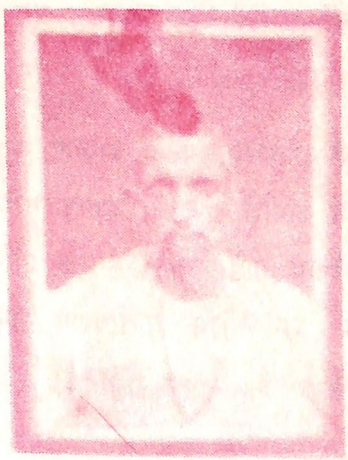

श्री धनीराम शर्मा

राजा परमाल के सामंत थे। ये सामन्त और राज्याध्यक्ष आत्मनिर्भर एवं धर्मपरायण होते थे। ये धर्महितार्थ, रक्षार्थ एवं कर्तव्य निष्ठा के परिचायक थे। समाज में ब्राह्मण और क्षत्रियों का विशेष महत्व था। उस समय भारत विभिन्न छोटे–छोटे टुकड़ों में विभाजित था। अतएव राजागण आपस में लड़ते रहते थे।

युद्धों का मुख्य कारण किसी शासक की सीमा से गुजरने पर शान के निमित्त झड़पें, पुराने बैर तथा राजपूती शान होता था। इसके अतिरिक्त युद्धों का मूल कारण विवाह अथवा कन्या अपहरण रहे हैं। तत्कालीन समाज में क्षत्रियों की मान्यता थी –

"जेहि घर बेटी क्वाँरि देखी, तेही घर जाये धरे हथियार।।"

चन्देलकालीन युग में दुर्ग और कोट का अत्यधिक महत्त्व था। आल्हखण्ड में वर्णित ५२ लड़ाईयाँ, गढ़–विजय के रूप में दृष्टिगत होती हैं। युद्धों में हाथी, घोड़ों एवं पैदल सैनिकों का बाहुल्य था। योद्धा की सजावट में उसके हथियार अत्यधिक महत्व रखते थे। तलवार, भाला, कटारें, धनुषबाण आदि प्राचीन अस्त्रों के अतिरिक्त, आधुनिक परिवेश के कारण सामयिक शस्त्र तोप, बन्दूक आदि भी समाहित हो गये हैं।

"बारह छुरियाँ कम्मर बाँधे, कलहा दुइ बाँधे तलवार।
अगल-बगल में दुई पिस्तौलें, दहिने सिंहनी मूठ कटार।।"

इसके अतिरिक्त सैन्य–सज्जा, ब्यूह सज्जा आदि में प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों प्रभाव दृष्टिगत होते हैं। हम यह निर्विवाद कह सकते हैं कि अल्हैतों की वाणी में तत्कालीन राजनैतिक वातावरण समग्रता के साथ प्राप्त होता है।

आर्थिक पक्ष

अल्हैतों की वाणी 'आल्हा' में चन्देलकालीन आर्थिक पक्ष पूर्ण वैभवता के साथ आया है। स्वर्ण, मोती, हीरा, जवाहरात, माणिक्य, मुक्ता, पारस, पथरी आदि के प्रसंग इनके वैभव के परिचायक हैं। "पारस पथरी गढ़ महुबे में, लोह छुवत सोन होई जाई" पंक्ति, महोबा वासियों के विशाल वैभव की सूचक है। इसके अतिरिक्त, हाथियों के होदे सोने के होना, साधारण रस्सी के स्थान पर रेशम रस्से, साधारण सीढ़ी के स्थान पर मलयागिरी चन्दन से निर्मित सीढ़ी, नौलखा हार, कंचन लेखनी, रत्न जड़ित सिंहासन एवं पलंग, हाथी दाँत के दरवाजे, स्वर्ण खम्भे, अरबी घोड़े, गैंडे की खाल की ढालें, तीन लाख का टीका आदि राजन्यवर्ग की बहुत ही भव्य तस्वीर प्रस्तुत करते हैं।

अल्हैतों के राजवैभव की ओर अधिक ध्यान मुखरित करने से सामान्य जन का चित्रण नहीं हुआ। अल्हैतों के अतिश्योक्तिपूर्ण एवं कल्पना प्रसूत वर्णन के कारण सामान्य जन का जीवन इस राजसी ठाठ के समक्ष उपेक्षित रह गया है। फिर भी ग्रामीण जन मात्र इस वैभव की कल्पना मात्र से रोमांचित हो उठते हैं। उन्हें कल्पनाओं के मध्य ही आत्मतुष्टि दिखाई पड़ती है। अतएव, अल्हैतों का कथात्मक एवं राजसिक वर्णन उनमें निराशा उत्पन्न नहीं करता, बल्कि सुख प्रदान करता है।

सांस्कृतिक पक्ष

मध्ययुगीन इतिहास साक्षी है कि चन्देलों का काल कला की दृष्टि से उच्चकोटि का रहा है। बुन्देलखण्ड में व्याप्त विभिन्न मंदिर एवं सरोवर इसके साक्षी हैं। 'आल्हा' में वर्णित कीर्तिसागर, महोबा के किले, गढ़, विभिन्न मन्दिर चन्देलकालीन स्थापत्य कला की उत्कृष्टता के सूचक हैं। कालिंजर के नीलकंठ मन्दिर से प्राप्त अभिलेख में राजा को दशार्णाधिपति के रूप में स्मरण किया गया है।

मनोरंजन के लिए आखेट, नृत्यशालाओं एवं मेलों आदि की व्यवस्था थी। विभिन्न कवियों को राजाश्रय प्राप्त था। आल्हा के रचयिता आदि कवि जगनिक भी परमाल के राज्याश्रित थे। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि चन्देलकालीन सांस्कृतिक पक्ष को उजागर करने में 'आल्हा' के गायक सफल रहे हैं।

धार्मिक पक्ष

चंदेलों के समय वैदिक और पौराणिक धर्म का बोलबाला था। चंदेल–कालीन देवी, देवताओं के विविध मंदिर इसके साक्ष्य हैं। अल्हैतों द्वारा आल्हा के प्रारम्भ में गायी जाने वाली सुमिरनी में इन देवी, देवताओं के प्रति अपार श्रद्धा प्रकट की गई है। इनकी सुमिरनी में शारदा देवी, शिव, ब्रह्मा, विष्णु आदि पौराणिक एवं प्राचीन देवताओं के अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रीय देवी, देवताओं का कालांतर में उल्लेख होने लगा है। जैसे कि घाटमपुर की मुक्तादेवी, रूपन गुरू (इटोरे) आदि।

क्षत्रियों की कुल देवी माँ शारदा रही हैं, जो कि शाक्त धर्म की परिचायक हैं। वहीं कालिंजर का नीलकंठ शिव मन्दिर एवं खजुराहो का कंदरिया महादेव का मन्दिर शैव धर्म की ओर संकेत करता है। साथ ही साथ गोरखनाथ जैसे नाथ सिद्धों की चलाई गई उपासना पद्धति का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। 'आल्हा' का नायक आल्हा अपने भाई के साथ नित्य मैहर की माँ शारदा के दर्शन करने जाता था किन्तु अंतिम युद्ध में गुरु गोरखनाथ से प्रभावित हो वन में चला गया।

तात्पर्य यह है कि इस समय तक धार्मिक सहिष्णुता बनी हुई थी। आल्हा के नायकों को अवतारवादी के रूप में प्रतिष्ठित करने से वैष्णव धर्म का भी प्रभाव स्पष्ट मिलता है। मांगलिक कार्यों में गौरी पुत्र गणेश के पूजन की प्रवृत्ति थी।

"बेदी बनिगई तब आँगन में, सखियाँ मंगल रही सुनाय।
मल्हना रानी नेग करावैं, पंडित दये गणेश पुजाय।"

इसके अतिरिक्त सती पूजा का भी महत्व था। उन्हें देवियों की भाँति ही पूजा जाता था। आल्हाकालीन विभिन्न सती स्त्रियाँ, लोक देवी के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जैसे – मैहर में स्थित फुलवा सती का मन्दिर।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि अल्हैतों की वाणी धार्मिक सहिष्णुता बनाने में पूर्णतः सक्षम है। सभी पंथों को पूर्ण प्रश्रय दिया गया है।

सामाजिक पक्ष

चंदेलकालीन समाज में ब्राह्मण एवं क्षत्रियों का बाहुल्य था। समाज में ऊँच–नीच की भावनाएँ व्याप्त थीं। अल्हैतों द्वारा बार–बार दोहराई जाने वाली निम्नलिखित पंक्ति तत्कालीन शासकों में व्याप्त जाति व्यवस्था की सूचक है –

"देश देश टीका लै जैहो, नगर महोबे जैयो नाय।
जाति बनाफर की ओछी है, जँह हम तुम्हें देत बतलाय।"

जहाँ समाज में जातिवाद था, वहीं वर्ग संघर्ष नहीं था। आल्हा–ऊदल एवं अन्य राजाओं द्वारा अपने सेवकों से कही जाने वाली निम्नलिखित पंक्ति इसकी सूचक है –

"नौकर चाकर नहीं लागत हो,
तुम तो भैया लगो हमार"

रूढ़ियाँ एवं विश्वास

'आल्हा' में जिन रूढ़ियों और लोक विश्वासों का आभास मिलता है वे बारहवीं शती की राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश की देन हैं।

समाज में यह मान्यता थी कि राजपूतों का सकलवंश पौरुषयुक्त होता है। बलवान वीर को बाघ तथा नागवीर की संज्ञा दी जाती थी। वीर पुत्र माता को सिंहनी आदि कहकर संबोधित किया जाता था। लोगों का मानना था कि जो राजपूत सिंहनी माता से जन्म लेता है, उसका शत्रु कुछ नहीं बिगाड़ सकता। किसी राजपूत वीर के वध का बदला उसके पुत्र को शत्रु से लेना अनिवार्य था। अगर किसी वीर की युद्ध में मृत्यु हो जाती थी तो उसकी पत्नी तब तक चूड़ियां तथा बिन्दी नहीं उतारती थी, जब तक उसका पुत्र, पिता का बदला न ले ले। पुत्रों को भी शान्ति नहीं मिलती थी।

"जब तक तौं बदलो हम नहीं लेहैं,
मिटिहै नाँहि पेट को घाउ।
कही तुम्हारी हम नहि मनिहैं,
चलिके लेंइ बाप को दाव।।"

जिस प्रकार बेटे द्वारा बाप के घाती से बदला लेने की प्रथा प्रचलित थी उसी प्रकार किसी का नमक खाकर या पानी पीकर उसकी पूर्ति का भी प्रचलन था। अगर राजपूत ऐसा नहीं करते थे तो राजपूती शान में बट्टा माना जाता था।

"पानी पिया काल्हि से गढकौ, सो देंही में गयो समाय।।
बैरी चढ़ों आपने समुहैं, अपने देखन को धिक्कार।।"

इसके अतिरिक्त वैधव्य के पश्चात् संतान प्राप्ति सामाजिक दृष्टि से हेय मानी जाती थी। ऐसी संतान को घूरे (कूड़े) पर फेंकने की कुप्रथा थी। जनसाधारण में रूढ़ि थी कि ऐसी संतान पितृ–भक्षक होती है। सती प्रथा जैसी कुप्रथा भी प्रचलित थी।

इसके अतिरिक्त समाज में जादू–टोनों का अंधविश्वास प्रचलित था। युद्धों में अलौकिक सत्ता देवी–देवताओं के अतिरिक्त जादूगरों का भी बाहुल्य था। विभिन्न वर्णित वस्तुएं – अमर ढोल, देवी–खड्ग, इन्द्र घोड़े आदि इनके परिचायक हैं। युद्ध में जादू का प्रयोग हथियारों के समकक्ष होता था।

युद्धों के अतिरिक्त अपहरण आदि करने में जादू का सहयोग लिया जाता था। सुआपंखिनी द्वारा इन्दल को हरण करने की घटना उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त ज्योतिष–विद्या का भी महत्त्व था।

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि समाज में विभिन्न रूढ़ियां, विश्वास, अंधविश्वास, कुप्रथायें प्रचलित थीं। देवताओं एवं जादू–टोने पर जन सामान्य का विश्वास था। संप्रति, ग्रामीण जनों में यह विश्वास देखने को मिलते हैं।

रीति–रिवाज एवं संस्कार

आल्हाकालीन समाज में प्रत्येक कार्य शुभ मुहूरत देखकर सम्पन्न किए जाते थे। ग्रह, नक्षत्र का पता लगाने के लिए पोथी, पत्रों का प्रावधान था। बालक के जन्म के समय छठी दष्ठौन आदि संस्कारों का प्रचलन था। पुत्र के सुख हेतु विप्रों को दान देने की भी प्रथा थी। उदाहरणार्थ ऊदल के जन्म पर रानी मल्हना द्वारा की गयी रीतियाँ द्रष्टव्य हैं –

"जिस दिन छठी करी ऊदीन की, छठी पर धरी ढाल तलवार।
जब दष्ठौन किया ऊदल का, उस दिन कीन्हों मोद अपार।।
भरि–भरि धारा मणि मुक्तन के, सो विप्रन को दिये लुटाय।
हर्ष में डूबे नृप परिमालिक, लै गज मुक्ता दिये लुटाय।।"

बालकों के सयाने होने पर उनके विवाह बड़ी धूम–धाम से होते थे। पिता को पुत्री के सयानी होने पर उसके विवाह की चिन्ता होती थी। इसके लिए स्वयम्वर

रचाने का प्रावधान था। इसके अतिरिक्त पुत्री का पिता, जिस वर को उचित समझता था, उसके पास हिन्दू प्रथानुसार, नाई अथवा ब्राह्मण द्वारा टीका भेजते थे। टीका चढ़ाने की क्रिया पुरोहित सम्पन्न कराते थे, चौक पूरने की भी रीति पूरी की जाती थी –

"चौक पूरि दई तब पंडित ने, पूजन सकल दयो करवाय।।
भयो बुलौआ टिकहारन को, शुभ साइत विधिवत् अनुसार।।
टीका चढ़ि गयो राज आल्ह को, शुभ साइत विधिवत अनुसार।।"

बारात सजने से पूर्व तेल चढ़ाने की रीति प्रचलित थी। सर्वप्रथम गौरी–गणेश का पूजन किया जाता, उसके बाद सात सुहागिनें मिलकर तेल चढ़ाने की रस्म पूर्ण करती थीं।

"बेदी बनि गई तब आँगन में, सखियाँ मंगल रही सुनाय।।
मल्हना रानी नेग करावै, पंडित दये गणेश पुजाय।।
बारहों रानी मंडप पहुँची, अरू आल्हा को लओ बुलाय।।
सात सुहागिन मिलि आल्हा को, मंडप तेल चढ़ायों आय।"

इसके अतिरिक्त किसी की मृत्यु होने पर चिता को अग्नि देने, पिण्ड दान करने आदि संस्कार भी प्रचलित थे।

इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचन के पश्चात् हम 'आल्हा' में वर्णित समाज के सम्बन्ध में कह सकते हैं कि सामन्ती वातावरण में जनसामान्य, धन–धान्य, वैभव से संपूर्ण था, किन्तु प्रतिष्ठा, सुन्दरी और राजसिक युद्धों के कारण अस्थिरता विशेष थी। इसलिए लाखा बगीचा, लाखाहार, लाखापातुर आदि की चर्चा बार–बार आई है। धार्मिक दृष्टि से वातावरण में सहिष्णुता थी। समाज में विभिन्न रूढ़ियाँ, कुप्रथाएँ, जादू–टोने, देवी–देवताओं की आराधना का प्रचलन था। जन्म, विवाह, मृत्यु आदि संस्कार पूर्ण रीति–रिवाजों के अनुसार संपन्न होते थे। युद्ध, चमत्कार, कल्पना, रोमान्चक घटनाओं के वातावरण के मध्य 'आल्हा' की शौर्यगाथा विकसित हुई है। कालान्तर में विभिन्न प्रक्षेप जुड़े हैं, किन्तु वह सामाजिक चेतना को प्रस्तुत करने में पूर्णतया सफल हैं।

अल्हैत : एक परिचय

मानव वाक् शक्ति सम्पन्न प्राणी है। अतः उसका अतीत ज्ञान उसकी वाणी के रूप में सुरक्षित है और वर्तमान का अनुभव और ज्ञान, संचरणशील है, जो दूसरों को भी प्राप्त होता है और प्रभावित करता है। वाणी का वरदान पाकर ही मनुष्य प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ हुआ और इसी आधार पर मानव–समाज का निर्माण हो सका है।

युग–युग की मौखिक परम्परा में बढ़ती हुई वाङ्मय की धारा भी अमर हो जाती है और लिपिबद्ध साहित्य भी अध्ययन, मनन और समीक्षण कसौटी पर कसता हुआ, यदि युग–युग तक प्रवाहित हो जाता है तो अमर हो जाता है। न जाने कितने वाणीकारों की रचनाएँ श्रुत परम्परा में पड़कर अमर हो गई तथा साहित्य की विभूति बन गई। ऐसी ही परम्परा का दिग्दर्शन बुन्देलखण्ड जनपद के वीर रस परक लोक महाकाव्य तथा हिन्दी क्षेत्र की अमूल्य निधि जगनिक कृत आल्हखण्ड में होता है।

विदित है कि प्राचीनकाल (सामंती वीर युग) में राजाओं के दरबार में चारण, भाटों का बहुत अधिक सम्मान होता था। यह चारण, भाट केवल कवि और विरुद्ध गायक ही नहीं होते थे, वे वंशावली लिखकर सुरक्षित रखते तथा दौत्य और मंत्रणा का कार्य भी करते थे। साथ ही वे राजाओं के साथ युद्धभूमि में जाकर

लोगों के हृदय में निरंतर वीर भावना भरते रहते थे। इन्होंने मुख्यतः गेय पद्धति को अपनाया।

इन्हीं चारण, भाटों, ढाढ़ी एवं हरबोलों के समकक्ष एक और वर्ग, भारतीय संस्कृति, जनजीवन को अभिव्यक्ति प्रदान कर जनमानस के हृदय में वीरता के प्राण फूँकता रहा है जिसे कि जनसाधारण अल्हैत के नाम से जानता है।

'अल्हैत' शब्द की व्युत्पत्ति

विदित है कि हिन्दी प्रदेश के विकसनशील लोक महाकाव्य 'आल्हखण्ड' का नामकरण उसके प्रसिद्ध एवं उदात्त नायक 'आल्हा' के नाम पर हुआ है। 'आल्हा' शब्द संज्ञा प्रधान है। यह राजा परमाल के सामन्त 'आल्हा' के नाम पर रुढ़ हो गया है। अतः आल्हा के चरित्र को लेकर लिखी गयी विकसनशील लोकगाथा, आल्हखण्ड के रूप में सृजित हुयी। इस ग्रंथ में प्रयुक्त छंदों का नामकरण भी इसके नायक के नाम पर रुढ़ हो आल्हा छन्द हो गया है। विदित है कि इस ग्रंथ की रचना वीर छंद में हुई है। इस छंद में १६, १५ की यति से ३१ मात्राएं होती हैं। अतएव, कालांतर में इस छंद को अथवा नायक आल्हा के चरित्र की गाथा गाने वालों को 'अल्हैत' कहा जाने लगा।

'अल्हैत' शब्द के मूल में भी यही आल्हा संज्ञा विद्यमान है। 'आल्हा' संज्ञा में बुन्देलखण्डी प्रत्यय 'एत्' लगाने से उसका कर्तवाची रूप 'अल्हैत' प्रस्फुटित होता है। इसका अर्थ हुआ–आल्हा गाने वाला। इसी प्रकार की प्रत्यय से युक्त अन्य शब्द हिन्दी प्रांतों में प्रचलित हैं, जैसे – लठैत, टिकैत आदि।

इन अल्हैतों को विभिन्न नामों से जाना जाता है। जैसे – दतिया में यह 'आलिया' कहलाता है, तो बनाफरी पट्टी में 'सैरवार'। प्रसिद्ध इतिहासविद् जार्ज ग्रियर्सन भी इन्हें 'आल्हा गाने वाले' कह महत्त्व प्रदान करते हैं।

अल्हैत–परिचय

विदित है कि 'आल्हा' की गाथा के पोषण में अल्हैतों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जनसाधारण का विश्वास है कि जगनिक ने अपने लोक प्रबंध 'आल्ह–खण्ड' को लोगों के सामने गा गाकर सुनाया होगा, अतः वह लोक मुख में समा गया। यही कारण है कि आज से लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ जगनिक का यह मौखिक काव्य आज भी जनमानस में अपना वर्चस्व बनाए हुए है। मुख से मुख तक की इस सजी धजी यात्रा में उसका कुछ कलेवर बदलता रहा है, बदला है। किन्तु कथा की आत्मा का हनन नहीं हुआ। इसका श्रेय निश्चित ही इन अल्हैतों को जाता है। मूल लिखित ग्रंथ उपलब्ध न होने के कारण परिवर्तन स्वाभाविक है। संभवतः यही परिवर्तनशीलता का गुण समाज में इसका अस्तित्व अक्षुण्ण रखे हुए है।

अल्हैती की परम्परा का निर्वाह गुरु–शिष्य परम्परा में हुआ है। किन्तु विशेषतः यह है कि प्रत्येक अल्हैत केवल अनुकरणकर्ता ही नहीं हैं अपितु परिवर्द्धनकर्ता भी है। अल्हैतों के इसी गुण को देखते हुए डा० सूर्य प्रसाद दीक्षित इन्हें लोक आशुकवि कहते हैं। वे बताते हैं कि–

"प्रत्येक अल्हैत को कथानक अपनी गुरु परम्परा में प्राप्त होता है, जिसका एक पारस्परिक ढाँचा है। किन्तु प्रत्येक अल्हैत अपने बुद्धिकौशल से तत्काल कथाक्रम को आल्हछन्द में रचकर, श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करके, प्रसिद्धि पाता है। यह तत्काल छंद रचना की प्रवृत्ति का विशेष गुण इन्हें लोक आशु कवियों की श्रेणी में रखता है।"

अल्हैतों से सम्बन्धित सर्वेक्षण उपरान्त ज्ञात हुआ कि अधिकांशतः अल्हैत निरक्षर अथवा कम पढ़े लिखे होते हैं। प्रसिद्ध भाषाविद् जार्ज ग्रियर्सन ने भी आल्हा को पढ़े लिखे लोगों की सम्पत्ति न बताकर, अनपढ़ व्यक्तियों की श्रेणी में रखा है। अल्हैतों की इन्हीं प्रवृत्तियों को देखकर, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय की शिक्षिका डा० कैरीन शोमर ने यूरोपीय तथा भारतीय मौखिक परम्परा की तुलना करते हुए लिखा है कि –

"इसको लेकर इस निष्कर्ष पर भी पहुँचा गया है कि अनेक पुराने लिखित वीरकाव्य, जैसे कि – ग्रीस के मशहूर 'इलियड' और 'ओडिसी' जो कि होमर कवि की कृतियाँ समझी जाती हैं, किसी के लिखे जाने से पहले पीढ़ियों से आशुकवियों की मौखिक परम्परा के अंश रहे हैं।

आल्हा लोक काव्य की परम्परा की भी शायद वही कहानी होगी। अतः उसको मूल रूप से दुनिया के मौखिक वीर काव्यों की संख्याओं में सर्वोपरि गिनना उचित है। अल्हैत की छन्द बनाने की पद्धति का विश्लेषण करने से दुनिया भर की मौखिक परम्परा की रचना प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ जायेगा..।"

यही छन्द निर्माण की वृत्ति अल्हैतों को आशुकवि की संज्ञा प्रदान करती है।

समय परिवर्तनशील होता है। अतएव समयानुसार 'आल्हा' के कथाक्रम में परिवर्तन आना स्वाभाविक है किन्तु इसके पश्चात् भी आल्हा के घटनाक्रम की सत्यता पर अविश्वास नहीं किया जा सकता है। वैसे भी अल्हैतों का आशुकवि वाला गुण कथाक्रम में परिवर्द्धन करता रहता है।

अन्ततोगत्वा हम लिख सकते हैं कि आल्हा के पोषकों में अल्हैतों का अपना व्यक्तिगत महत्व है, जिसे किसी भी विद्वान को अस्वीकार नहीं करना चाहिए। ये अल्हैत ही आल्ह सम्पदा का सबसे महत्वपूर्ण पहलू हैं।

अल्हैतों के प्रकार

आल्हखण्ड की लोकप्रियता के कारण उसका विकास हर युग में क्रमशः होता रहा है। जैसा कि विदित है कि 'आल्हखण्ड' की पृष्ठभूमि उत्तर–भारत के तीन समृद्धशाली राजाओं की कथा पर है। अतः यह गाथा मात्र बुन्देली की धरोहर न होकर समस्त उत्तर–भारत की अपनी निधि हो गई है। जिसका प्रमाण विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित 'आल्हा' के पाठों को देखकर सहज ही लगाया जा सकता है। बुन्देली के अतिरिक्त 'आल्हा' की लोकप्रियता मैथली, मगही, भोजपुरी, अवधी, बघेली, कन्नौजी, ब्रजी, कौरवी आदि जनपदों में इतनी अधिक है कि वह उस जनपद के लोक जीवन एवं लोक साहित्य की पहचान का एक अंग बन गई है।

आल्हा गायकों को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है – प्रथम–वैयक्तिक गायक, द्वितीय – मंचगायक।

(१) वैयक्तिक गायक

यह वैयक्तिक गायक सम्पूर्ण उत्तर भारत में मिलते हैं। इनके गायन का मुख्य उद्देश्य स्वान्तः सुखाय होता है। अतएव इनके गायन के लिए कोई निश्चित काल या अवधि नहीं है। साधारणतः यह प्रवृत्ति बरसात के ऋतु में अधिक दिखाई पड़ती है क्योंकि आल्ह गायन के लिए यह समय उपयुक्त माना जाता है।

यह वैयक्तिक गायक बिना वाद्य के, केवल स्वर और लय में आरोह–अवरोह से मध्य एवं द्रुत लयों के

उठाव–चढ़ाव बनाए रख, गायन करता है। अगर इनकी लय एवं स्वर अच्छा हो तथा वह पुस्तक पढ़ना जानता हो तो अनपढ़ गाँव वालों के मध्य इनका महत्व बढ़ जाता है। यह पाठ्य वस्तु को संप्रेषणीय बना, वाचिक अभिनय के माध्यम से श्रोताओं को संतुष्ट कर आत्मतृप्ति महसूस करता है। ऐसे गायकों की गिनती संभव नहीं है।

(२) मंच गायक :

मंच गायक वह है जो सचेतन रूप में गायन के उद्देश्य को ही केन्द्र में रखकर मंच से गाते हैं। इनका मूल उद्देश्य एकत्रित श्रोताओं के विशाल समूह को अपनी कला से परिचित कराना तथा जनसाधारण की भावनाओं को उद्दीप्त करना ही है। पूर्व में मेलों के अवसर पर आयोजित फड़बाजी और वर्तमान में आयोजित 'आल्हा' प्रतियोगिताओं में भाग लेने वाले गायकों को इसमें रखा जा सकता है। यह अल्हैत विभिन्न शैलियों में अपनी अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा को प्रदर्शित करते हुए जनमानस में अपना प्रभुत्त्व स्थापित करते हैं। वर्तमान में बाँदा, कन्नौज, महोबा तथा उन्नाव आदि की संस्थाएँ 'आल्हा' प्रतियोगिताओं के माध्यम से ऐसे गायकों को प्रश्रय देती हैं। यह मंच गायक गाँवों की चौपालों में भी गायन करते हैं। स्व० ठाकुर शिवराम सिंह, स्व० लक्खूसिंह, स्व० सत्यनारायण 'मसवासी', बच्चासिंह, लल्लूबाजपेयी, खेमराजसिंह, जोधा सिंह आदि सभी को ऐसे ही अल्हैतों में रखा जा सकता है।

विभिन्न शैलियों और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए मंचीय आल्ह–गायकों को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक – एकलगायक, दूसरा – समूह गायक। यह प्रवृत्ति विभिन्न अंचलों में प्रचलित गायकी शैलियों पर आधारित है।

(१) एकल गायक :

एकल गायक स्वयं अकेले 'आल्हा' गायन करता है। उसके अन्य साथी केवल वाद्यों पर संगत करते हैं। महोबा की प्रचलित गायकी के अल्हैत–बच्चासिंह, जयसिंह, चरणसिंह, काशीराम श्रीवास, श्री हल्के (बुन्देलखण्ड) एवं लल्लू बाजपेयी, राजकुमार पाण्डेय (बैसवारा) आदि को इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

(२) समूह गायक :

समूह गायक पूरी मंडली के साथ मंच पर गाते हैं। एक प्रमुख गायक अगुवाई करता है, अन्य साथी वाद्य–वादन के साथ–साथ प्रमुख गायक का अनुकरण कर सम भरते हैं। कहीं कहीं सभी साथी कोरस में भी गायन करते हैं। उदाहरणार्थ – पूँछी करगँवा की गायकी देखी जा सकती है। गोण्डा तथा हरदोई पट्टी के अल्हैतों में सम भरने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। वर्तमान में महोबा गायकी की प्रचलित लीक से हटकर प्रसिद्ध अल्हैत बच्चासिंह एवं चरण सिंह ने भी इस युगल गायन का सफल प्रयोग किया है जिसमें गायन शैली पूर्व परम्परित है। इस शैली से गायक को अवकाश मिल जाता है।

इन विभाजनों के अतिरिक्त डा० नर्मदा प्रसाद गुप्त ने भी अल्हैतों की वैयक्तिगत प्रवृत्तियों को दृष्टिगत रख अल्हैतों को तीन भागों में विभाजित किया है। वे अपने शोध–पत्र 'आल्हा लोक गायकी' के इतिहास में लिखते हैं –

"आल्ह लोक गायकी में गायक को अक्सर दोहरी भागीदारी निभानी पड़ती है और उसके तीन रूप सामने आये हैं – (१) गायन के साथ वादन (२) गायन

और अभिनय (३) गायन और सृजन की दोहरी भागीदारी।

(१) गायन के साथ वादन :

इस तरह के गायक स्वयं गाते हैं तथा स्वयं ही प्रमुख वाद्य यन्त्र ढोलक या मृदंग बजाते हैं। महोबा गायकी में सभी गायक स्वयं ढोलक बजाते हैं। इससे लय के अनुरूप ताल देने के साथ–साथ भाव अभिव्यक्ति में भी सहायता मिलती है। किन्तु सभी गायक इससे सहमत नहीं हैं। अन्य अंचलों के गायकों का मानना है कि स्वयं वादन करने से वाचन या गायन के लिए उचित अवकाश नहीं मिलता जिससे व्यक्तिगत प्रतिभा आहत होती है।

(२) गायन और अभिनय :

इस प्रवृत्ति के गायकों का उद्देश्य गीतत्व और अभिनय के सामंज्जस्य से आल्हा को अधिक प्रभावी बनाना है।

इसके अन्तर्गत गायक गायन के साथ अभिनय को महत्व देता है। उन्नाव के गायक लल्लूबाजपेयी रंगीन वेशभूषा में तलवार लेकर ओजत्व का प्रदर्शन करते हुए आल्हा गाते हैं। इसी प्रकार बुन्देल खण्ड के हास्य अल्हैत पनधरी निवासी चोखेलाल को रखा जा सकता है। वे अपने हास्यात्मक अभिनय के लिए जनसाधारण में लोकप्रिय हैं। लेकिन इस प्रकार के गायन में असहजता, उथलापन आदि से गायकी प्रभावित होती है।

महोबा के गायकों को आल्हा गायन–कला में महारथ हासिल है। वे वीर रस में उदात्त और कम्पित, करुण और विभत्स में अनुदात्त, स्वरित और कम्पित तथा श्रंगार में स्वरित और उदात्त वर्णों से भावानुरूप स्वर आन्दोलित करते हैं।

(३) गायन और सृजन की दोहरी भागीदारी :

इस प्रकार के वर्गीकरण पर पाश्चात्य विद्वान मिलसन पैरी, अलवर्ट वी० लार्ड, कैरिन शौमर, फिलिप आदि ने होमर की कविता के गायकों के सर्वेक्षण पश्चात् साक्षात्कारों पर यह निष्कर्ष निकाला है कि हर गायक की हर प्रस्तुति -नवसृजना होती है। पाश्चात्य आल्हा शोध कर्मियों ने इस प्रस्तुति को आशुकविता के गुण पर आधारित कहा है। यूरोपीय मौखिक परम्परा से भारतीय मौखिक परम्परा की तुलना करते हुए, कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी की शिक्षक डा० कैरीन शोमर लिखती हैं –

".....अनेक पुराने लिखित वीरकाव्य जैसे कि ग्रीस के मशहूर 'इलियट' तथा 'आडीसी' जो कि होमर कवि की कृतियाँ समझी जाती हैं, किसी के लिखे जाने से पहले पीढ़ियों के आशुकवियों की मौखिक परम्परा के अंश रहे हैं।

'आल्हा' लोककाव्य की परम्परा की शायद वही कहानी होगी। अतः उसको मूलरूप से दुनिया के मौखिक वीर काव्यों की संस्था में सर्वोपरि गिनना उचित है। अल्हैत की छंद बनाने की पद्धति का विश्लेषण करने से दुनिया भर की मौखिक परम्पराओं की रचना प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ जायेगा.....।"

उपर्युक्त पहलुओं के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्तियाँ भी विचारणीय हो सकती हैं, जैसे कि सवाद्य गायन वाले अल्हैत अथवा अवाद्य वाले, अथवा व्यवसायिक या अव्यवसायिक, प्राचीन भाष्य गायक अथवा अर्वाचीन भाष्य गायक, छन्दों के आधार पर एक छंदीय अथवा अनेक छंदीय आदि। इसके अतिरिक्त उनके कलात्मक सौंदर्य में अन्तर तथा क्षेत्रीयता के प्रभाव को देखा जा सकता है।

उत्तर भारत के प्रसिद्ध अल्हैत

बुन्देलखण्ड के विकसनशील लोकगाथा महाकाव्य की कथा का गायन–परायण करने वाले शताधिक कलाकार देश के अनेक अंचलों में प्राप्त हो जाते हैं। 'आल्हा' के कई क्षेत्रीय पाठ भोजपुरी, कन्नौजी ब्रज, कौरवी, राजस्थानी, अवधी, बुन्देली आदि विभाषाओं में उपलब्ध हैं, विशेषता यह है कि 'आल्हा' की बुन्देली कथा प्रत्येक क्षेत्र के संस्कारों में इस भाँति लिप्त हो जाती है कि वह उस क्षेत्र की निजी धरोहर लगती है। निश्चित रूप से 'आल्हा' को कालजयी कृति निर्धारित करने में उपर्युक्त तथ्य का विशेष महत्व है तथा इसका सारा श्रेय इस कथा के गायक 'अल्हैतों' को दिया जाना चाहिये।

उत्तर भारत के किसी भी गाँव से वर्षा ऋतु में निकलने पर इन अल्हैतों की वाणी को आसानी से सुना जा सकता है। इनकी संख्या का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है क्योंकि मौखिक परम्परा में ही इनका नाम उल्लिखित रहता है तथा विशेषता यह भी है कि मुँह से एक बार उच्चरित होने वाली पंक्तियाँ बाद में स्वयं कलाकारों को स्मृत नहीं रहतीं। साथ ही पूर्व शताब्दियों में वर्णना को लिपिबद्ध करके छपवाने के साधन भी नहीं थे।

इन अभावों के कारण यह रचनाकार विस्मृत होते चले गये। कालक्रम में केवल वह ही बच पाये जो किसी निश्चित घराने की गायकी से जुड़ गए या इतने विख्यात हुए कि लोक जनों के मध्य चर्चित रहे।

इनका पूर्ण परिचय अत्यन्त सघन सर्वेक्षण के लिये प्रतिक्षित है, फिर भी मैं अपने प्रयासों–पत्राचार, सम्पर्क, सर्वेक्षण, साक्षात्कारों द्वारा इनकी एक सूची तैयार करने में सफल रहा हूँ। अपनें–अपने क्षेत्रों एवं राष्ट्रीय स्तर पर ख्यातिलब्ध अल्हैतों का विवरण निम्नलिखित है :–

१. स्व० पीरासाई, ग्राम–चतेला, हमीरपुर।
२. स्व० फत्तू कसाई, ग्राम–मूसानगर, घाटमपुर।
३. स्व० कालीदीन, ग्राम–उमरी, हमीरपुर।
४. स्व० ताती सिंह, ग्राम–उमरी, हमीरपुर।
५. स्व० धनीराम शर्मा, ग्राम–बैहारी, हमीरपुर।
६. स्व० शिवराम सिंह गौतम, ग्राम–खरैला, हमीरपुर।
७. स्व० गंगाधर श्रीवास्तव "गंगोले", दतिया।
८. स्व० लक्खू सिंह, ग्राम–बिदोखर, हमीरपुर।
९. स्व० परशुराम शर्मा, ग्राम–बैहारी, हमीरपुर।
१०. स्व० शिव दयाल कमरिया, ग्राम–पूँछी करगवाँ, टीकमगढ़।
११. स्व० घनश्याम, सागर।
१२. स्व० गजराज सिंह, ग्राम–खरैला, हमीरपुर।
१३. स्व० मोहन लोध, ग्राम–जगतरवैरा, उन्नाव।
१४. स्व० सत्य नारायण शुक्ला, ग्राम–मसवासी, उन्नाव।
१५. स्व० देवी दयाल, ग्राम–फदुल्लापुर, हरदोई।
१६. स्व० शेर बहादुर सिंह, ग्राम–मरदनपुरवा, गोण्डा।
१७. स्व० बाबू राम उपाध्याय, प्रतापगढ़।
१८. स्व० तिलक सिंह, कन्नौज।
१९. स्व० पोहप सिंह, ग्राम–नरेन्द्रपुर, फतेहगढ़।
२०. स्व० लंकेश, कन्नौज।
२१. स्व० आशाराम सिंह, ग्राम–खन्ना, हमीरपुर।
२२. श्री हीरालाल श्रीवास्तव, दतिया।
२३. श्री श्याम अग्निहोत्री, दतिया।
२४. श्री मथुरा प्रसाद बरूआ, टीकमगढ़।
२५. श्री राम कुमार बरूआ, टीकमगढ़।
२६. श्री प्रभु दयाल खरे, टीकमगढ़।
२७. श्री चन्द्रभान सिंह, ग्राम–बिदोखर, हमीरपुर।
२८. श्री हल्कै, सागर।
२९. श्री दीनदयाल वर्मा, उरई।

३०. श्री जय सिंह, ग्राम–बिदोखर, हमीरपुर।
३१. श्री बच्चा सिंह, ग्राम–मवई, हमीरपुर।
३२. श्री चरण सिंह, ग्राम–चिचारा, हमीरपुर।
३३. श्री काशीराम श्रीवास, ग्राम–पतारा, हमीरपुर।
३४. श्री ठा० छोटे सिंह, ग्राम–खरैला, हमीरपुर।
३५. श्री सुल्तान सिंह, ग्राम–खरैला, हमीरपुर।
३६. श्री रामरतन पहलवान सिंह, ग्राम–खन्ना, हमीरपुर।
३७. श्री श्याम लाल यादव, ग्राम–घटहरी, छत्तरपुर।
३८. श्री मुन्नी लाल श्रीवास, ग्राम–चिचारा, हमीरपुर।
३९. श्री चन्द्रपाल सिंह, ग्राम–बिगेहना, हमीरपुर।
४०. श्री शिवराम सेन, ग्राम–काली पहाड़ी, हमीरपुर।
४१. श्री प्रताप सिंह यादव, ग्राम–बबीना, जालौन।
४२. श्री राम औतार सिंह, ग्राम–मबई, हमीरपुर।
४३. ठा० दिनेश सिंह, ग्राम–बिदोखर, हमीरपुर।
४४. श्री बुद्धू सिंह, ग्राम–बिदोखर, हमीरपुर।
४५. श्री भारत सिंह, ग्राम–वर्दा, हमीरपुर।
४६. श्री राम भरोसे, ग्राम–गुन्देला, हमीरपुर।
४७. श्री जोधा सिंह यादव, ग्राम–बहरइया, हरदोई।
४८. श्री राजेन्द्र सिंह, ग्राम–निवादा, हरदोई।
४९. श्री बलवन्त सिंह, ग्राम–बहरइया, हरदोई।
५०. श्री रामलाल यादव, ग्राम–रसुलापुर, हरदोई।
५१. श्री रामलाल पासी, ग्राम–खुटहैना, हरदोई।
५२. श्री शिवराज सिंह, ग्राम–लोहार खेड़ा, सीतापुर।
५३. ठा० खेमराज सिंह, ग्राम–मरदनपुरवा, गोण्डा।
५४. श्री मुक्तिनाथ त्रिपाठी, ग्राम–देवरिया, अलावल, गोण्डा।
५५. श्री जैशराज सिंह, ग्राम–मरदनपुरवा, गोण्डा।
५६. ठा० हनुमान सिंह, ग्राम–तिरैं मनोरामा, गोण्डा।
५७. श्री राम शबद चौधरी, ग्राम–विशुन पुरबैरिया, गोण्डा।
५८. श्री मुनीजर प्रसाद वर्मा, ग्राम–गोसाईं पुरवा, गोण्डा।
५९. श्री लल्लू बाजपेयी, ग्राम–नारायणदास खेड़ा, उन्नाव।
६०. श्री अम्बिका प्रसाद मिश्र, ग्राम–मालपुर, उन्नाव।
६१. श्री बाबू लाल पाण्डेय, ग्राम–चैनपुर, उन्नाव।
६२. श्री तेज बहादुर सिंह, ग्राम–बरहा, उन्नाव।
६३. श्री सुर्जू सिंह, ग्राम–जमीपुर, उन्नाव।
६४. श्री कमलेश कुमार, ग्राम–गौतमन खेड़ा, उन्नाव।
६५. श्री बुद्धि लाल, ग्राम–लालगंज, टेढ़ा उन्नाव।
६६. श्री करूणा शंकर बाजपेयी, ग्राम–धनकोली, उन्नाव।
६७. श्री गया प्रसाद, उन्नाव।
६८. श्री कलदार बहादुर सिंह, ग्राम–सरैनी, रायबरेली।
६९. श्री राजकुमार पाण्डेय, ग्राम–उसरू, रायबरेली।
७०. श्री कन्हैया लाल धीमान, ग्राम–गोसाई खेड़ा, रायबरेली।
७१. श्री काली प्रसाद, सुल्तानपुर।
७२. श्री रवीन्द्र नाथ तिवारी, ग्राम–विशवकपुर, रायबरेली।
७३. श्री रामानन्द सिंह, ग्राम–बरहा, रायबरेली।
७४. श्री राम अवध पाण्डेय, ग्राम–पूरेमान मिश्र का पुरवा, सुल्तानपुर।
७५. श्री शिव कुमार त्रिपाठी, ग्राम–खनियापूरब, सुल्तानपुर।
७६. श्री दया शंकर मिश्र, ग्राम–सारंगपुर, सुल्तानपुर।
७७. श्री बाबू लाल मौर्य, ग्राम–मझली, सुल्तानपुर।
७८. श्री वासुदेव मिश्रा, ग्राम–सराय, सुल्तानपुर।
७९. श्री राम लाल शर्मा, दलित नगर, कानपुर।
८०. श्री जमुना शंकर शर्मा, धनकुट्टी, कानपुर।
८१. श्री गया प्रसाद मिश्र, ग्राम–करेहटी, प्रतापगढ़।
८२. श्री गया प्रसाद पाण्डेय, ग्राम–मवैया, प्रतापगढ़।
८३. श्री चन्द्रपाल तिवारी, ग्राम–जमुआ, फैजाबाद।
८४. श्री राम शंकर यादव, ग्राम–तारामऊ, गाजीपुर।
८५. श्री छोटेलाल यादव, ग्राम–भट्टपुरा, लखनऊ।
८६. श्री राम कुँवर, बाराबंकी।
८७. श्री बच्चू लाल तिवारी, बाराबंकी।
८८. श्री शोभा खलीफा, मेरठ।
८९. श्री प्यारे लाल, कन्नौज।
९०. श्री नोरमलाल, कन्नौज।

उपहार स्वरूप भेंट

६१. श्री चेतराम, फर्रुखाबाद।
६२. श्री मेघनाथ, फर्रुखाबाद।
६३. श्री सोने लाल, फर्रुखाबाद।
६४. श्री राम लडैते, फर्रुखाबाद।
६५. श्री रमाशंकर वैद्य, फर्रुखाबाद।
६६. श्री साधू सिंह, फर्रुखाबाद।
६७. श्री जगवीर सिंह, फर्रुखाबाद।
६८. श्री कालीचरन, फर्रुखाबाद।
६९. श्री नारायण उर्फ नैना, फर्रुखाबाद।
१००. श्री छदामीलाल, फर्रुखाबाद।
१०१. श्री मुंशी लाल, फर्रुखाबाद।
१०२. श्री दशरथ सिंह, फर्रुखाबाद।
१०३. श्री जगन्नाथ सिंह, देवरिया।

उपर्युक्त अल्हैतों के अतिरिक्त अन्य कई अल्हैत सीमित साधन के कारण छूट गए हैं साथ ही लिपिबद्ध 'आल्ह खण्डों' के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध भोलानाथ, ललित प्रसाद, मटरू लाल आदि अल्हैतों का नाम नहीं गिनाया है क्योंकि यह सब अपना स्थान बना चुके हैं।

एक विशेष तथ्य और उल्लेखनीय है कि पुरुष गायकों के साथ साथ एक महिला ने भी सन् १९४५ में आल्हा गायकी के क्षेत्र में अपना स्थान बनाया था। एटा जिले के ग्राम छिलउवा निवासी–श्री सीताराम यादव की पुत्री ने १९४५ में धूम मचा रखी थी। इसे कनूटस के नाम से जाना जाता है।

उपर्युक्त सूची के माध्यम से अल्हैतों का परिचय पाकर उनसे सम्पर्क करके विभिन्न शोधार्थी, आल्हा विषयक नवीन उद्भावनायें एवं संभावनायें व्याप्त कर सकते हैं। इन अल्हैतों की प्राचीन गुरु परम्परा के शोध के बाद एवं मौखिक वर्णनाओं को संकलित कर आल्हा का मूल प्रमाणिक पाठ भी खोजा जा सकता है।

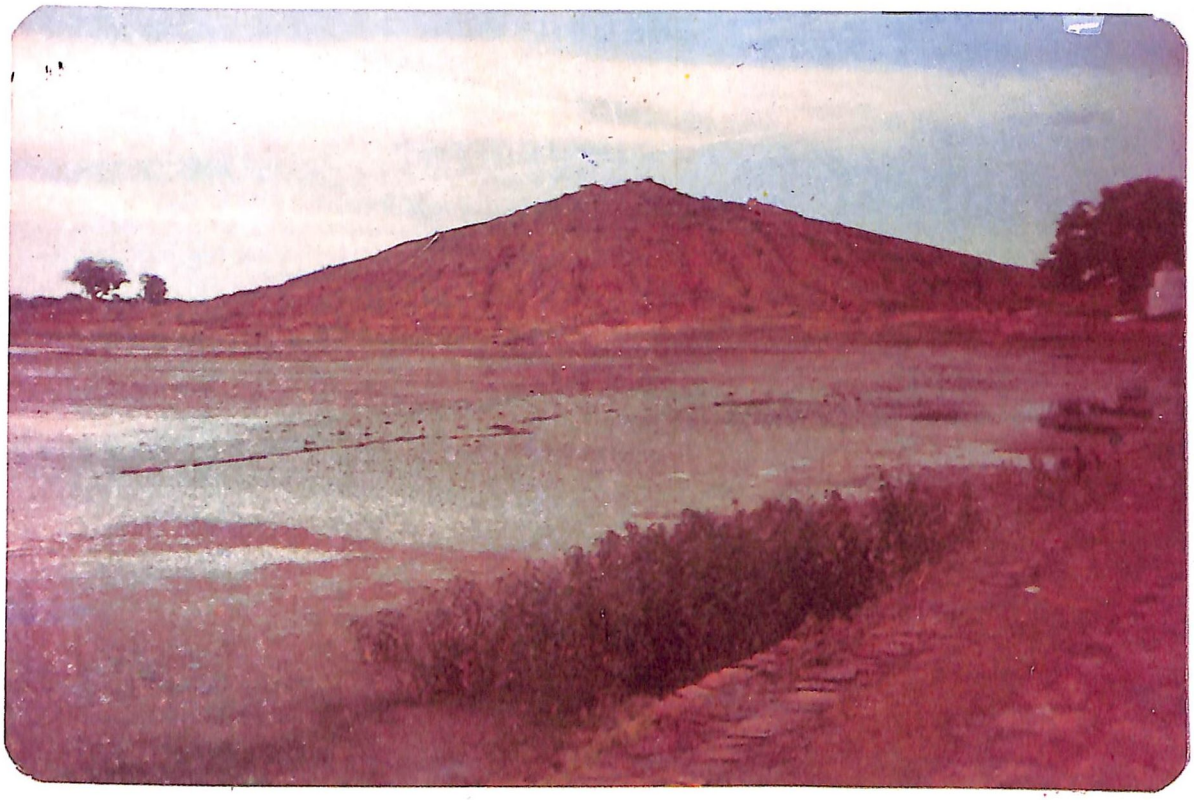

कीरत सागर एवं धुबिनी पहाड़ी (महाबा)

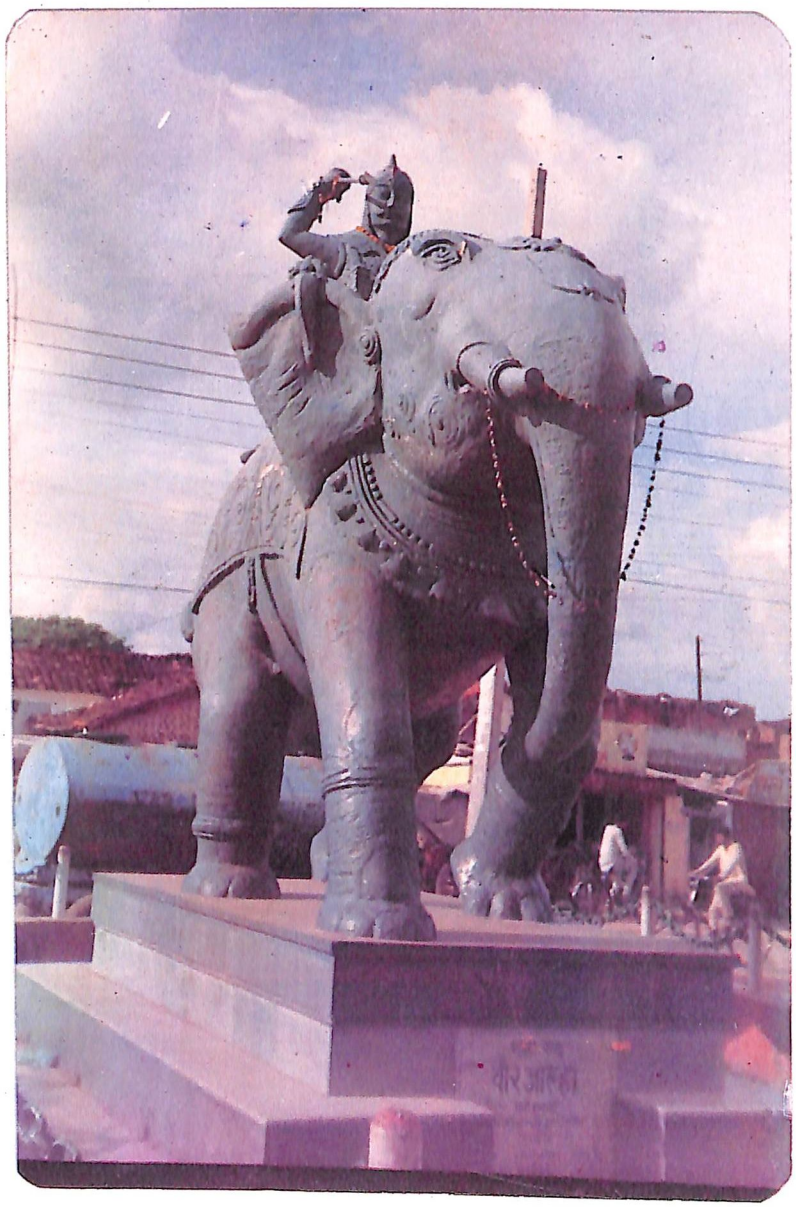

गजारूढ़–आल्हा की भव्य प्रतिमा (महोबा)

उ० प्र० सांस्कृतिक कार्य विभाग की अध्ययन वृत्ति योजना 93 - 94 के अन्तर्गत प्रकाशित एव
प्नार आफसेट, लखनऊ (फोन : 223757) में मुद्रित।